श्री शिवास्तुति

"Shri Shivastuti"

Kashmiri Version of Kashmir Shaivism

in verses



Published by :

Shri Jagat Amba Sharika Chakreshwar Sanstha,
Hari Parbat, Srinagar (Kmr.)

Price :-

FOREWORD

This first volume of "Shivastooti" is a versified pertinent to Shiva text containing Shiva terminology by the renowned seer of Shiva philosophy, Shree Tika Kak [illegible]oo and his worthy disciple Shree Bona Kak Ji. The [illegible]uscript was donated by Brahmachari Rug Nath Ji and the text rendered apprehensive by prof. Balji Nath a Sanskrit Scholar of Simla University and published by Chakreshwar Sanastha and printed at Aparna Press, Shivala Mandir Chota Bazar.

The place of self analysis is aided by the "Upasna" in "Trika Shastra" and thought. Its usefulness in the practice of spirituality has been amply propounded in this book, leaving aside ritualistics which would appear recondite to the modern readers. This school of thought does not believe in retreat. It believes in withdrawal only if followed by activities. In solitude followed by society, in self centred development only if "Loksangrah" is its later compliment. It emphasises on spirituality if nicely balanced by materiality. This school of thought [illegible]uite conversant with the present day trends of materialism and scientific developments.

Unfortunately this Shastra of valuable inheritance had been put to oblivion by us. This volume apart from whatever literary merit it may possess portrays the non - dualist Shiva philosophy of Kashmir in a comprehensive form. Nevertheless the student in its path

become dismayed, bewildered and lost. Yet if he courageously pushes on he will be rewarded by the discovery of blossoms of rare beauty and fragrance. This present volume contains blossoms. Verily it lifts the aspirant to magnanimity. Lastly the Sanstha express its gratitude to Shree Rug Nath Ji Brahmchari who moved the Sanstha for publishing this book. The Sanstha would be amp[illegible] rewarded if this brochure find place in each and eve[illegible] Hindu home thus encouraging the Sanstha to bring into lime light through publication of rare manuscripts the said school of thought treasured by the Sanstha.

(Janki Nath Raina)
Secy. Shree Jagat Amba Sharika
Chakreshwar Sanstha,
Hariparbat, Srinagar.

Chakreshwar Bhawan
April 1975

N. B.

Due to paucity of funds and dearth of paper the Sanstha could not publish the whoie manuscript The second volume of this Shastra will be published on any convenient day.

(J. L. Nagri)
Publicity Secy.

ओं

गुरूपादानुग्रह

गुरूपादानुग्रह यन् वातिथ प्योम् ।
गुरूचरणामृत यन् शुत् चोम् ॥
महिमाघन परमा शून्य वुलस्योम् ।
हिहिस् ह्युहा ह्युहुय गोम् ॥ १ ॥

अर्थः— जब से गुरु महाराज के पादि कमलों का अनुग्रह अनायास ही (प्रार्थना करने के विना ही) एकदम मुझे प्राप्त हुआ और जब से उन के चरणों का अमृत एक बार पीने को मिला (तब से) अनन्त महिमा वाला परम शून्य चिदाकाश उल्लासित हुआ अर्थात् जीवता का अभ्यास शिवरूपता में विलीन हुआ । (इस प्रकार अज्ञान के कारण देहतादात्मय होने से जो मुझे दवैत में निशचय हुआ था) अब आनन्द-स्वरूप आत्मा को ज्ञान द्वारा पहचान कर जो मैं अज्ञान से पूर्व) था, वही हुआ ॥ १ ॥

चैतन्यशय कर शून्यालय ।
वुलसयि चैतन्य शून्याद्वय ॥
चैतन्य व्योम शिवअनुसन्धानयोम ।
हिहिस् ह्यहा ह्यहुय गोम ॥ २ ॥

अर्थः— उस महाशुन्य को चैतन्यस्वरूप जानो तो चित्स्वरूप महाकाश अदवैत के महाविकास में स्वरूप - साम्य को प्राप्त होगा ।

उसी चैतन्य - व्योमरूप शिव का तेलधारा की तरह विचार करने पर ही जो मैं (अज्ञान से पूर्व) था, वही हो गया ॥ २ ॥

चित् - दर्पणस अहं मल च्योम् ।
नाहं सकलि निर्मल गोम् ॥
सत्गुरु करुणायि निश गाह चमकयोम्
हिहिस् ह्यु हा ह्यु हुय गोम् ॥ ३ ॥

अर्थः— चित्त (जीव चेतनता) रुप दर्पन देहाभिमान रूप अहंता के मैल से ढक गया (था) निर्विशेष ज्ञान के कारण देह से (अब) अहंता का मल हट गया । निर्मल होने पर सत्गुरु-महाराज के कृपा कटाक्ष से स्वप्रकाश में स्थिति हुई । इस प्रकार सत्ता सामान्यता में स्थिति पाई ॥ ३ ॥

मन प्राण चित-वृत निशि यलि तनयोम
साक्षात्कार पान् भान प्रज़्ल्योम ॥
अहंभाव त्रावित् वासनायि क्षय गोम
हिहिस ह्यु हा ह्यु हुय गोम् ॥ ४ ॥

अर्थः— चित्तवृत्ति के निरोध से मन वासना - रहित और प्राण सूक्ष्म हो गये जिस से अपने सच्चे रूप का प्रकाश स्वयं ही हुआ । इस से देह में अहं - प्रत्यय को त्याग दिया

व)

और वासना का क्षय हो गया । अतः मैं जो निर्वासन व्यापक सत्य (अज्ञान से पूर्व) था, वही अब ज्ञान प्राप्त करके हो गया ।। ४ ।।

देहोऽहंभाव् निशि यलि त्राव्योम ।
परमानन्द सार निशि प्राव्योम् ।।
यिय ओसुस तु तिय त्रिजगत फहल्योम
हिहिस ह्यु हा ह्यु हुय गोम ।। ५ ।।

अर्थः— जब इस द्रढ ग्रह 'मैं देह हूँ' को (ज्ञानान्तर काल में) त्याग दिया तो परमानन्द अत्यन्नत निर्मल रूप में प्राप्त हुआ । मेरा अपना आप ही इस त्रिलोकी के रूप में व्याप्त हुआ । इस तरह जिस स्वरूप वाला मैं था वही हो गया ।। ५ ।।

ब्-भाव भ-भाव सुत्य तनिराव्योम ।
भ-भाव ब-भाव निशि प्राव्योम ।।
ब् नू केंह भय पाञपानय प्रकटयाम ।
हिहिस ह्यु हा हयु हुय गोम् ।। ६ ।।

अर्थः— ब्रह्मभावना के द्वारा (अथवा इस के फलस्वरूप) देहभावना सूक्ष्म होती गई । इस प्रकार (निरन्तर अभ्यास के द्वारा) देह-भावना छूट गई* और यह निश्चय प्रकट हुआ कि यह देह मैं नहीं हूँ अपितु मैं केवल प्रकाशस्वरूप विमर्शात्मा हूँ । इस तरह जो मेरा वास्तविक स्वरूप है वही पा लिया ।। ६ ।।

*ब्रह्मभावना स्फुटतम हो गई।

(ग

पानय सेव तय पान् सर्वात्मा ।
सर्वस त्रिज़गत छुय खात्मा ॥
अहंतयि सत्व सर्वतायि निश सिद्ध गोम
हिहिस हयुहा हयुहुय गोम ॥ ७ ॥

अर्थः— इसप्रकार चित्स्वरूप में स्थिति को पाकर मैं स्वयं ही सर्वरूपता में व्यप्ति का अनुभव करने लगा। तीनों जगत (भूः भुवः स्वः अर्थात जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) महाकाश (महाशून्य अथवा परमशून्य) में लीन हो गये। अतः सर्वात्म भावना के सिद्ध होने पर पूर्णाहन्ता का अनुभव हुआ और जो मेरा स्वरूप अज्ञान से पूर्व था वह शुद्ध चिदानन्द रूप उल्लसित हुआ

पानस निशसर्वता यलि साव्योम् ।
स्वप्रकाश पननुय-पान साव्योम् ॥
सत्गुरु करूणायि सर्व ईकाव्योम् ।
हिहिस् हयुहा हयुहुय गोम ॥ ८ ॥

अर्थः— सर्वात्म रूपता जब पूर्णाहन्ता से अभिन्न हुई तो स्वयं ज्योति प्रकाशात्मा भेद - प्रथन - शून्य हुआ। सत्गुरु के कृपा कटाक्ष से सत्तासामान्य अवस्था में स्थिति - लाभ करके लाभालाभ-शून्य स्वप्रकाश आत्मा ही व्याप रहा है जो साधना से पूर्व भी प्राप्त ही था ॥ ८ ॥

शिव-तुता

ॐ

श्री गुरवे नमः

१) जय भविनय गुरवर परमूर्ति ।
शिव शक्तिमत् चैतन्य स्फूर्ति ॥

हे गुरुवर आप शक्तिमान् शिव हैं, आप का स्वरूप चैतन्य की स्फुरत्ता है, आप परमेश्वर मूर्ति हैं, आप की जयकार हो ।

२) शिव शक्तिवृक्ष स्वानुभव फुलनोवुथ ।
शक्तिस्फार केवल शिव होवुथ ।

हे शिव आप ने शक्ति-वृक्ष को अपने अनुभव से विकास में लाया । आप ने शक्ति के विस्तार के द्वारा सर्वत्र केवल शिवरूपता का ही अनुभव कराया ।

३) होवुथ शिव आदि प्यठ अन्तस तान्य ।
अनुभावुथ शिव "स्वात्मैव नाऽन्य" ॥

हे शिव आपने आदि से अन्त-तक सर्वत्र शिव-भाव को इस तरह से अनुभव करा दिया कि "सर्वत्र आत्मा ही है, और कोई नहीं" ।

४) जय भविनय ज़य व्यनि गणनाथय ।
विघ्नहर्ता सवात्मि सिद्धि दातय ।।

हे समस्त इन्द्रिय आदि गुणो के स्वामी, हे विघ्नों को दूर हटाने वाले सभी के आत्मस्वरूप सिद्धिदाता, आप की जयजय कार हो ।

५) जय भविनय श्री शिव शक्तिमानय ।
अनन्त ऐश्वर्य विभवस्थानय ।।

हे श्री शक्तिमान् शिव, हे अनन्त ऐश्वर्य वाले, हे वैभव के आश्रयभूत, आप की जयजय कार हो ।

६) शिव सुन्द शक्तिपात यस इयि उदयस ।
शखच हुन्द भक्तिभाव तस उदि हृदयस ।।

जिस के प्रति शिवका अनुग्रहरूप शक्तिपात उदय को प्राप्त होता है, उसी को शक्ति के प्रति भक्ति का भाव हृदय में उदित होता है ।

७) शिव सुन्द भक्तिभाव उदीतस हृदयस ।
शखच हुन्द शक्तिपात यस इयि उदयस ।

शिव के प्रति भक्ति का भाव उसी के हृदय में उदित होता है, जिसके प्रति शक्ति का अनुग्रहरूप शक्तिपात उदय को प्राप्त होता है ।

८) भैरव शिव त्रिजगत च़ांनिय शक्ति ।
शिव शक्त्यर्थस पाथि न कें‌ह व्यतिरिक्त ॥

हे सर्वथा परिपूर्णरूप, भैरवात्मक शिव, तीनों जगत् आप की ही शक्ति हैं । शिव और शक्ति रूप अर्थ से कोई भी वस्तु अतिरिक्त कहीं है ही नहीं ।

९) शिव । स्वय छुय त्रिजगत् शक्तिस्वभाव ।
अर्थस शब्द, शब्दस अर्थ प्रभाव ॥

हे शिव आपका स्वभाव हीं शक्ति है और वही तीनों जगत् है । अर्थ का दूसरा स्वरूप शब्द है और शब्द का स्वरूप अर्थ है । तात्पर्य यह कि जैसे शब्द और अर्थ परस्पर अभिन्न हैं, वैसे ही शिव और शक्ति भी दोनों एक हैं ।

१०) शिव शक्तिभाव बीजांकुर न्याये ।
चैतन्य सूर्यनिश च्यत ज्योत द्राये ॥

शिव भाव और शक्तिभाव का परस्पर सम्बन्ध बीज और अङ्कुर का जैसा है । उसी तरह से जिस तरह से कि चैतन्य रूपी सूर्य से चित्त रूपी प्रकाश उत्पन्न हुआ है ।

११) ज्योत सूर्यँ .सूर्यँ ज्योतिष्मान् ।
ज्योतिष्मान चिद्भान नित चमकान् ॥

सूर्य ही ज्योति भी है और सूर्य ही ज्योतिष्ठमान् भी है । उसी तरह से चित्तरूप ज्यति के रूप में चिद्रूप सूर्य अर्थात् शिव ही चमक रहा है।

१२) विमेशय प्रकाशस स्वभाव ।
प्रकाशय विमर्शस प्रभाव ॥

प्रकाश का स्वभाव विमर्श ही है और विमर्श का अाविर्भाव-स्थान प्रकाश ही है प्रकाश उस तत्त्व को कहा जाता है जो स्वयमेव प्रकट होता हुआ अन्य सभी परिमित प्रमातृ वर्गों, प्रमेयव-र्गो और करण-वर्गों को भी प्रकाशित करता रहता है। विमर्श उन सभी प्रकाशमान तत्वों की प्रतीति को कहा जाता है। प्रकाश को light of consciousness और विमर्श को awareness कह सकते हैं।

१३) प्रकाश विमर्शस अन्तभू त ।
विमर्श प्रकाशान्तर ओत प्रोत ॥

प्रकाश विमर्श के भीतर विद्यमान रहता है और विमर्श प्रकाश में ओतप्रोत होकर रहता है। प्रकाश को evidentness और विमर्श को awareness भी कहा जा सकता है।

१४) विमर्श प्रकाशात्मा एकान्त :
प्रकाश विमर्श शिव शक्ति सिद्धान्त ॥

विमर्श तो निश्चय से प्रकाशात्मक ही है और प्रकाश तथा विमर्श ही शिव और शक्ति हैं, यही सिद्धों का निश्चित सिद्धान्त है।

१५) बिन्द्वात्मा नाद, नादात्मा बिन्द ।
ज़ल सिन्ध, शिव शक्त प्रकाशानन्द ॥

नाद बिन्दुस्वरूप है और बिन्दु नादात्मक है। शिव प्रकाश है और शक्ति आनन्द है। दोनों उस तरह से परस्पर अभिन्न हैं, जिस तरह से जल और समुद्र।

१६) शिव चय प्रथ्वीपर्यन्त उलस्याख्र ।
चय पानि पानस निश द्राख ॥

तू शिव ही शिव तत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व तक उल्लसित हो गया है । इस तरह से छत्तीस तत्त्व रूपी तू अपने आप से ही उत्पन्न हो गया है ।

१७) द्राख ना कुनि निशि चाख ना कुनि मज़ं ।
कर्ता अक्रिय कोरुत ना कुनि सज़ ॥

वस्तुतः तू किसी भी अन्य वस्तु से उत्पन्न नही हुआ या किसी में से निकला नहीं और न ही तू किसी वस्तु के भीतर समा गया । तू न करता हुआ भी सब का कर्ता है । सब कुछ उत्पन्न करते हुए भी तूने किसी भी अन्य वस्तु की सृष्टि नहीं की ।

१८) सर्वकर्ता अक्रय च्यय नाव कँह बन्दी ।
सर्वशक्तिमत् ज़यवुन आनन्दी ॥

तू सर्वकर्ता होकर भी अक्रिय ही है । तुम्हें कोई भी बन्धन नहीं है। तू सर्व शक्तिमान् है । तू सर्व श्रेष्ठ है, सबसे उत्कृष्ट है और आनन्दघन है ।

१९) आनन्द त् आनन्दभुक बाह्यान्तर ।
आनन्द दाता आनन्दीश्वर ॥

तू ही आनन्द है और तू ही आनन्द का उपयोग करने वाला है। अन्तर रूप से तू आनन्द का चमत्कार लेने वाला है और बाह्यरूप से तू आनन्द है। तू ही आनन्द दाता है, आनन्द वाला है और परमेश्वर है।

२०) आनन्दघन विमर्शुत शिवपान ।
तन्मध्ये सिद्ध गव ज़गत् आधान ॥

तू ने अपने आनन्द घन शिवस्वरूप का जब विमर्श किया तो उसी के भीतर जगत की सत्ता सिद्ध हो गई।

२१) "एकोऽहं" शिव विमर्शोवुत ।
'बहुस्याँ' त्रिज़गत् उदयोवुत ॥

'एकोऽहम्' अर्थात एक मैं ही हूँ' इस तरह से तूने अपने शिवभाव का विमर्श किया। 'बहु स्याम्' अर्थात मैं बहुत रूपों में प्रकट हो जाऊं' इस प्रकार विमर्शमात्र से आपने तीनों जगतों को उत्पन्न किया।

२२) इच्छा शक्त उदयावथ आदो ।
परमाशक्त मान्य सिद्धव त साधव ॥

पहले पहल आपने इच्छा शक्ति को उत्पन्न किया अर्थात् प्रकट किया। सिद्धों और साधुओं ने उसे ही परा शक्ति के नाम से मान लिया।

२३)　ज्ञान शक्त च्यय उल,सावथ स्वान्तर ।
क्रिया शक्त फुलनावथ बाहिर ॥

आपने ही अपने ही भीतर ज्ञान शक्ति को उल्लसित किया । फिर बाह्यरूप से आपने क्रिया शक्ति को भी विकास में लाया । इच्छा का ही विकास ज्ञान–क्रिया–रूप है । उन दो में भी परस्पर भेद होते हुए भी अभेद ही है । ज्ञान क्रिया का ही अन्तर्मुखं स्वभाव है और क्रिया ज्ञान का ही बहिर्मुख आकार है ।

२४)　निरच्छा यच्छवुन अन्तर्भूत ।
चय कर्ता शक्त त्रितयस ओत ओत ॥

तू इच्छाहीन होता हुआ भी इच्छायुक्त होता है । तू ही कर्ता है, शक्तिमान् है और सर्वत्र ओतप्रोत है । अर्थात सब कुछ तुझ में है और सब कुछ में तू है ।

२५)　प्रकृति–उल्लास धोरुत अम्बर ।
सत्व, रज़, तम, त्रयरुप सर्वान्तर ॥

आपने ही प्रकृति की उल्लास में लाकर आकाश का रूप धारण किया । आपने सत्त्वगुण, रजोगुण इन तीन रूपों के भीतर सभी कुछ धारण किया ।

२६)　प्राणभान गणपत च्यय आधोरुत् ।
जाग्रत मन दिन च्यय परस्पोरुत ॥

इन्द्रियगणों के पति प्रणरूपी दिन को भी आप ने ही धारण किया। जाग्रत् मन रूपी दिन को भी आप ने ही विकास में लाया।

२७) स्वप्न अपान उदयोवुत इन्दु ।
राति सुषुप्तिमत च्यत् सिन्धु ॥

स्वप्न रूपी अपानात्मक चन्दमा का उदय आप ने ही करवायां। सुषुप्तिरूपी रात्रि भी आप के ही चिद्रूप समुद्र से प्रकट हुई।

२८) अन्तः करणन मयूल शुद्ध अनुभव ।
सातुर्या ताम्थ ज़ीवतस नाव प्यव ॥

जब अन्तः करणों को शुद्ध तत्त्व का अनुभव होता है तो उसे तुर्या दशा कहा जाता है। उसी का नाम जीवात्मा है।

२९) अन्तः करणव सोर अन्तः विस्तार ।
बहिष्करणव कोर बाह्य—व्यवहार ॥

भीतरीय विषयों का विमर्शन अन्तः करणों के द्वारा होता है और बाह्य व्यवहार किया जाता है।

३०) आदौ शिव पूजोवुथ देवगण ।
प्रज़ापत ज़यवुन बृह्यामन् ॥

हे शिव पहले पहल आप ने देवगणों की पूजा करवाई। वह देवगण इन्द्रिय देवियों का गण है। फिर उन सभी देवियों से उत्कृष्ट मन रूपी प्रजापति को आपने पुजवाया।

३१) तद्विष्णुपरपद आंश्रित चित् ।
वाह्यान्तर प्रज़ि रछ़ि प्रज़ापत् ॥

तदनन्तर परम पद पर ठहरे हुए चित्त स्वरूप विष्णु को पुजवाया जो वाहरी और भीतरी - प्रजा की रक्षा करने वाला उत्कृष्टतर प्रजापति है ।

३२) अहन्ता शक्तिमत् अहंकार ।
सकंल्पान्तर व्यवहरि संहार ॥

अहन्ता की अर्थात् अभिमान की शक्तिवाला अहङ्कार होता है । वह अपने अभिमनन के सङ्कल्प के भीतर सब कुछ ले जाता हुआ अभिमनन के व्यवहार को करता है ।

३३) करनुक व्यवहार अन्तःभाविथ ।
पज़ि अपज़िय्य् विध, बुद्ध सिजराविय ॥

बुद्धि के द्वारा क्रिया के व्यवहार को अपने भीतर अन्तर्भूत करके यथार्थ क्या है और अयथार्थ क्या है इस बात का

निश्चय किया जाता है ।

३४) अंछिव वुछनथ जानि् क्रहुनत छोत ।
चमि स्पर्शन चेनि तुरुन त, तोंत ॥

बुद्धि आखों के द्वारा देखकर काला, सफेद आदि के ज्ञान को प्राप्त करती है और त्वचा द्वारा छूकर गर्म और ठण्डे को जानती है ।

३५) कन शब्दै अर्थसन्दान थाविथ ।
नस फ़ूंकनै गन्ध अनुसन्दाविय ॥

(बुद्धि) कानों से शब्द सुनकर अर्थ का अनुभव करती है और नाक से सूघँ कर गन्ध का अनुसन्धान करती है ।

३६) ज़्यव चहि,नय नोंन स्योन पर्ज़नाविय ।
चानि सन्निधान ट्योंठ म्यूठ अनुभाविय ॥

(बुद्धि ही) जीभ से चखकर नमकीन आदि स्वाद को पहचान कर मीठे और कडवे का अनुभव करती है ।

३७) ज्ञान इन्द्रिय पाञ्च च्यय आश्रावित् ।
स्वक्रिया छिय ब्योनं ब्योंन व्यवहारित ॥

ये पांच ज्ञानेद्रिन्यां तुम्हारे ही आसरे पर ठहरी हैं और तू ही इन्हें अपनी २ क्रिया का व्यवहार अलग अलग ढंग से करवाता है ।

३८) तुलि त्रावि अथ चानि सन्निधानय ।
पकि पाद चानि बलदात बलवानय ॥

तुम्हारे सान्निध्य से ही हाथ उठाते और छोड़ते हैं । हे बलवान् आत्मदेव, हे सभी के बलदाता, तुम्हारे बल से पैर चलते हैं ।

३९) वाक् शब्दन ब्योंन ब्योंन विस्तारिय ।
चुयशीति लछि मुख शब्द व्यवहारिय ॥

तू ही अस्सी लाख प्रकार के मुखों द्वारा शब्दों का उच्चारण करता हुआ वाणी के शब्दों का अलग अलग व्यवहार करता है ।

४०) माज़ लुथरा ज़िवि क्या ओस स्वभाव ।
चानि अनुग्रह प्रोवुन वाक प्रभाव ॥

जीभ मांस का टुकड़ा है । इसमें कोन सा अपना प्रभाव है । परन्तु तुम्हारे अनुग्रह से इसे वाणी की शक्ति मिल गई है ।

४१)　गुहास्थान चानि बल मल त्राविय ।
अन्य इन्द्रिय भोगानन्ददाविय ॥

गुदास्थान तुम्हारे ही बलसे मल का उत्सर्ग करता है और आनन्द-इन्द्रिय तुम्हारे बल से भोग का आनन्द देती है ।

४२)　खं वायु ज्यातिरापश्च ।
पृथ्विय चोन अनुग्रह त, शापश्च ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तुम्हारे ही अनुग्रह और शाप (निग्रह) के पात्र बनते हैं ।

४३)　चानि सन्निधान, ज़ड चेतनवत् सिद्ध ।
सन्निधान, विनं बलवान दैह बनिल्युड ॥

तुम्हारे सान्निध्य से जड भी चेतन जैसा बन जाता है और तुम्हारे सान्निध्य के विना बलवान् शरीर भी बलहीन हो जाता है ।

४४)　अष्टविंशति तत्वमय देह धोरुत ।
सोर बृह्माण्ड विस्तार अनुसोरुत ॥

अठाईस तत्त्वों से बने हुए शरीर को तूने ही धारण किया । समस्त ब्रह्माण्ड के विस्तार को तू ने व्याप्त किया ।

४५) चय विश्व विश्वात्मा विश्वम्भर ।
चय विश्वमय विश्वोत्तीर्ण विश्वेश्वर ॥

तू ही विश्व है, तू ही विश्वरूप है, तू ही विश्व का धारण और पोषण करने वाला है, विश्वमय भी है और विश्व से उत्तीर्ण भी है, तू विश्व का ईश्वर है ।

४६) चय देवन त, ज़ीवन अन्तर्भूत ।
चय शिव छुक सारि जगिहुन्द ओतप्रोत ॥

तू देवताओं और मर्त्य प्राणियों के भीतर विद्यमान है । तू शिव है और समस्त संसार में ओतप्रोतभाव से ठहरा है ।

४७) चोन ज़ानुन च्य विना कुस ज़ानिय ।
चोन मानुन च्य विना कुस मानिय ॥

तुम्हें तुम्हारे विना और कौन जानता है। तुम्हें तुम्हारे विना और कौन मानता है ।

४८) कुस गछि च्य विना स्वात्मस सममुख ।
कुस ज़ानि च्य विना स्वात्मानन्द सुख ॥

तुम्हारे विना अपनी आत्मा के सन्मुख कौन जासके ।

तुम्हारे विना अपनी आत्मा के आनन्द के सूख को और कौन जाने ।

४९) चान अनुग्रह उदियस हृदयस मंज़ ।
सुय करि चानि चरणकि ज़ान,तुक संज़ ॥

जिसके हृदय के भीतर तुम्हारा अनुग्रह उदयको प्राप्त होवे, वही तुम्हारे चरणों के जानने की तय्यारी कर सकता है ।

५०) भव भैरव चय छुक सर्वतो मुख ।
चय भूगक सर्वमुख सोरुय सुख ॥

हे शिव, हे भैरवनाथ, तू सर्वतो मुख होकर ठहरा है। सभी मुखों के द्वारा तू ही समस्त सुखों का उपयोग करेगा ।

५१) नित्योदित सन्निहेत चित सूर्य ।
गट् कास्तम भास्तम् पर वीर्य ॥

हे सदा समुदित और सदा समीपस्थ चित्सूर्य, तू मेरे अन्धकार को दूर कर दे और पराशक्ति के वीर्य से तू मेरे सन्मुख प्रकट हो जा ।

५२) गट् कास्तम गाशै अविनाशै ।

भगवान भैरव शिव स्वप्रकाशै ॥

हे भगवान भैरवनाथ शिव तू अपने प्रकाश से ही चमकती हुई अविनाशी प्रभा के द्वारा मेरे अन्धकार का नाश कर दे।

५३) च़िय निरंजन शिव च़य निराकार ।
सर्व आदिभूत च़य सर्वांधार ॥

हे शिव तू ही निर्मल और आकार रहित है । तू ही सभी का आदि है और सभी का आधार है ।

५४) च़य प्रस्फोरमुत छुय यि मायाज़ाल ।
सर्वालय च़य सर्वात्मा वेताल ॥

तू ने ही इस मायाजाल को प्रस्फुरित किया है । तू सभी का आश्रय है । तू सर्वात्मभूत भैरवनाथ है।

५५) च़य कास्तम अन्तःकरणुक मल ।
च़य ज़ानक मायाज़ालुक छल ॥

तू ही मेरे अन्तः करण के मल को दूर करदे। माया-जाल के छल को तो तू ही जानता है ।

५६)　अज्ञानुक गटकार न'शरावतम् ।
स्वज्ञानकि गाश घर गाशरावतम् ॥

मेरे अज्ञान के अन्धकार का तू नाश करदे । मेरे घर को तू आत्मज्ञान के प्रकाश से चमका दे ।

५७)　चित कव गोमुत छुक सन्देह गण ।
धर्ममात्मा सद्गुरु पाद सेवन ॥

हे मेरे 'चित्त, तू क्यों सन्देहों में पड़ गया है । तू धर्मात्मा सद्गुरु के पादों की सेवा कर ।

५८)　चित स्मरचि सद्गुरु पाद अन्तन् ।
विमर्शस प्यठ परनाद अन्तन ॥

हे चित्त तू सद्गुरु के पैर को याद करले । तू परनाद को अपने विमर्श के भीतर ला दे ।

५९)　दुर्मेध छय सन्देह कुय भूधर ।
चटि सुय यस अनुग्रह करि सत्गुर ॥

दुर्बुद्धि ही सन्देहों का एक विशाल पर्वत है । उसे वही काट सकता है जिसपर सद्गुरु अनुग्रह कर दे ।

६०)   मन प्राण त वाणी एका'वित क्यत ।
चितु ! गछ गुरुचरणस शरणगत ॥

हे मेरे चित, तू मन को प्राण को और वाणी को एकाग्र करके अपने सद्गुरु के चरणों में शरण ले ले ।

६१)   सत् शब्दुक अनुसन्धान हाविय ।
सत् शब्दच प्रतिभा ननिशाविय ॥

सद्गुरु ही सत् शब्द के अर्थ के अनुसन्धान के प्रकार दिखलाकर सत् शब्द से होने वाले प्रातिभज्ञान को प्रकट करके ।

६२)   सत्गुर दियि हाविथ सत,च वथ ।
सत्गुर ह्यछिनाविय सत,च वृथ ॥

वे सद्गुरु परमार्थ सत्य स्वात्म-शिव तक पहुंचने के मार्ग को दिखा देंगे। उस सत्य शिव की अवस्था में किस तरह से ठहरा जाता है, इस प्रकार की चित्तवृत्ति को भी सद्गुरु सिखा देंगे ।

६३)   सत्गुर शब्द छुय तारक मन्त्र ।
सत्गुर शब्द सर्वमन्त्रन यन्त्र ॥

"सद्गुरु" यह शब्द ही संसार चक्र से पार ले जाने वाला नारक मन्त्र है । "सद्गुरु" यह शब्द एक ऐसा यन्त्र है जिस में सभी मन्त्र बन्धे हुए हैं ।

६४) सत्गुर शब्द शिवदर्शन ज़ानुन ।
सत्गुर शब्द सत्मन्त्र मानुन ॥

"सद्गुरु" इस शब्द को ही आप शिवदर्शनरूप समझिए । इस सद्गुरु" शब्द को ही आप उत्तम मन्त्र मानिए ।

६५) सत्गुर अनि सत् धर्म,य उदयस ।
प्राक् ज़न्म,क्य पुण्य यस इन उदयस ॥

सद्गुरु सत्यधर्म का उदय कराएगे । परन्तु यह काम वे उसी के लिए करेंगे जिसके पिछले जन्मों के पुण्य कर्म फल देनें को तय्यार हो जाएं । पुण्य कर्म से यहां पुण्य संस्कार तात्पर्य हो सकता है ।

६६) सत्गुर छुय सर्वपापन हुन्द भङ्ग ।
छुय प्रत्यक्ष मोक्षोपाय सत्सङ्ग ॥

सद्गुरु ही सभी पापों का नाश कराने वाले हैं । सद्गुरु का सत्सङ्ग ही मोक्षप्राप्ति का प्रत्यक्ष उपाय है ।

६७) सत्गुर छुय मोह अन्धकारुक नाश ।
सत्गुर छुय प्रत्यक्ष शिवप्रकाश ॥

सद्गुरु मोहरूप अन्धकार का नाश करने वाले हैं। सद्गुरु प्रत्यक्ष शिवप्रकाश करने वाले हैं।

६८) सत्गुर निश पानस ब्यहनाविय ।
पानसय निश सत्प्रतिमा हाविय ॥

सद्गुरु आप को अपने पास बिठाकर अपने से ही भगवान् के सत्यस्वरूप को प्रकट करेंगे। ऐसा करके।

६९) वखनाविय तत् सत् चित आनन्द ।
अनुभाविय सत् चित् प्रतिभास्पद ॥

उस सत्-चिद्-आनन्दरूप परब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या आप को सच्चिद्रूप स्वात्म प्रकाश की विमर्शात्मक शक्ति के परिस्पन्दन का अनुभव करा देंगे। (प्रतिभा=स्वाभाविक और स्वय सिद्ध चित्प्रकाश को कहते हैं और स्पन्द उसकी उस परमेश्वरता की गति का नाम है, जिससे सदैव सृष्टि, स्थिति, संहार आदि का ऐश्वर्य अभिव्यक्त होता रहता है)

७०) सत्गुर सेव, ज़ानुन शिवसेवन ।
सत्गुर सत् वाक् ज़ान सज़ीवन ॥

आप यह जानिए कि सद्‌गुरु की सेवा ही शिव की सेवा होती है । सद्‌गुरु की सत्य वाणी को अर्थात् उसके सदुपदेशों को आप सञ्जीवनी औषधि अर्थात् जन्ममरण के सकट से मुक्त करने वाली औषधि जानिए ।

७१) सत्गुर सुन्द महिमा वनि कुस वया ।
सत्गुर छुय सत् प्रतिभा प्रतिमा ।।

सद्‌गुरु की महिमा का कौन वर्णन करसके और किस तरह कर सके । सद्‌गुरु ही सत्य प्रतिभाकी अर्थात् स्वाभाविक चित् प्रकाश के विमर्श की मूर्ति है ।

७२) युस प्रतिभा ज़ीवन हंज ज़ीवन ।
युस प्रतिभा देवन संज़ीवन ।।

सद्‌गुरु वही प्रतिभा (प्रतिभया स्वाभाविक संवित्) है जो समस्त जीवों की जीवन शक्ति है तथा जो देवताओं के भी भीतर प्राणप्रतिष्ठा करती है ।

७३) युस प्रतिभा अथेन अनुभोवि़श्य ।
युस प्रतिभा न'व्य न'व्य शब्द नोव'श्य ।।

सद्‌गुरु वह प्रतिभा (संवित्) हैं जो समस्त प्रमेय विषयों का अनुभव करवाती है और जो प्रतिभा नंए नए शब्दों की अर्थात् अर्थविमर्शों की जननी है ।

७४) युस प्रतिभा बोलान रात्र-दिन ।
युस प्रतिभा छुप छय महिमागण ॥

सद्‌गुरु वही प्रतिभा है जो दिनरात बोलती रहती है, अर्थात् आन्तर शब्दों द्वारा अर्थों का विमर्श करती रहती है और जो प्रतिभा चुप रहती हुई भी महामहिमामयी ही बनी रहती है अर्थात् विषयोन्मुख विमर्श की शान्ति अवस्था में जो स्वात्मविमर्श के द्वारा अतीव महिमामयी बनती है ।

७५) युस प्रतिभा सांछी संसरनन् ।
सुरनन अन्तः बाहिष्करणन् ॥

सद्‌गुरु वही प्रतिभा (संवित्) है, जो असंख्य योनियों में जन्म-मरण की परम्पराओं की साक्षी, है जो मानस चिन्तन की भी तथा समस्त अन्त: करणों और बाह्यकरणों के समस्त व्यापारों की भी साक्षी है ।

७६) युस प्रतिभा सांछी बाह्यान्तर ।
वर्णमाला हुन्द सांछी यथ, सुर ॥

सद्‌गुरु वही प्रतिभा है जो समस्त बाह्य और आन्तर व्यवहारों को साक्षी है उस तरह से वह उन व्यवहारों की साक्षी है, जिस तरह से सारी वर्णमाला का साक्षी "अ"स्वर होता है। तात्पर्य यह है कि "अ"स्वर आ से लेकर ह तक समस्त वर्णों

में ओतप्रोतभाव से रहता हुआ उनको अभिव्यक्त करता रहता है। "इ ई" आदि स्वरों में भीं गुप्तरूप से "अ" ही रहता है। उसी तरह से संवित् प्रकाश समस्त बाह्य और अन्तः करणों के व्यवहारों को प्रकाशित करता रहता है और उन में ओतप्रोत होकर रहता है।

७७) युस प्रतिभा चैतन्य चि़त प्रकाश ।
युस प्रतिभा सवंगाशन हुंद गाश ।।

सद्गुरु का स्वरूप वह प्रतिभा है जो चैतन्य है और जिसे चेतना का प्रकाश कहते है वह चित् प्रकाश स्वय अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होता हुआ अन्य सभी चित्त बुद्धि, इन्द्रिय, आदि तथा सूर्य, चन्द्रमा अग्नि आदि को भी प्रकाशात्मकता का प्रदान करता है। तात्पर्य यह है कि वस्तुतः चित्प्रकाश ही इन सभी की प्रकाशात्मकता का स्रोंत है। वह चित्प्रकाश ही सद्गुरु का स्वरूप है।

७८) लगखय चि़त्त । तत्पर रात्र-दिन ।
चि़त - प्रतिभा ज्योति चमकिय अछिन ।।

हे मेरे चित्त, यदि तू दिनरात तत्परता से साधना में लग जाएगा, तो तुम्हारे नेत्रो में भी चित्प्रतिभा की ज्योति चमक उठेगी, अर्थात तुम्हें अपने संवित प्रकाश का साक्षात्कार हो जाएगा।

७९) चि़त । गरि गरि कोता वखनावय ।

निर्वासिन वननच शय हावय ॥

हे मेरे चित्त मैं बार बार तुम्हें कितना व्याख्यान करूं अब मैं तुम्हें वासना हीन बनने का उपाय दिखा दूंगा ।

८०) निर्वासिन मन सत् योग प्रावख ।
चित । योदवै निष्कल थ्यत थावख ॥

हे मेरे चित्त, तू मन को वासनाहीन बनाने पर वास्तविक योग को प्राप्त करेगा, यदि कल्पनाशून्य स्थिति में ठहरेगा ।

८१) आदौ छुय वैराग्य सर्वकारण ।
भाग्यवान तिम यिम वैराग्य धारन ॥

पहले पहल तो सारी योगसिद्धि का कारण वैराग्य है। वे मदानुभाव भाग्यवान हैं, जो वैराग्य को धारण करते हैं ।

८२) मोह चुनरे वैराग्य नाश करवुन ।
मोह गट, गांलिथ छु प्रकाश दखुन ॥

मोह की धुन्ध का नाश करने वाला वैराग्य ही मोह के अन्धकार का नाश करके प्रकाश करने वाला है । अर्थात् वैराग्य मे एक ओर से मोह का नाश होता है और दूसरी ओर से चित्प्रकाश का अनुभव हो जाता है ।

८३) वैराग्य सत् असतस् निश विनिरिय ।
हंस युथ दुधस त पांनिस भिनिरिय ॥

वैराग्य ही सत् और असत् में परस्पर विवेक को उत्पन्न करेगा; उसी तरह से, जिस तरह हंस दूध और पानी को भिन्न करदेता है ।

८४) यात्र वैराग्य तात्र आव सत् सुविचार ।
यात्र वैराग्य तात्र आनन्द स्फार ॥

ज्यों ही वैराग्य होता है त्यों ही सच्चा सुविचार भी उत्पन्न होता है । ज्यों ही वैराग्य होता है, त्यों ही आनन्द का विकास और विस्तार होता है ।

८५) भाग्यवान गय वैराग्यस सन्मुख ।
भाग्यवानव भूग वैराग्युक सुख ॥

भाग्यवान् महापुरुष वैराग्य के सन्मुख हो गए और भाग्य वानों ने वराग्य के सुख का आसुवाद पाया ।

८६) भाग्यवान सुय यस वैराग्य उदयस ।
भाग्यवानस तस सत् भाग्य उदयस ॥

भाग्यवान् वही है जिसमें वैराग्य का उदय हुआ हो । उसी भाग्वान् के उत्तम भाग्य फलोन्मुख हुए हैं ।

८७) वैराग्य रोस ज्ञान कनि प्यठ वव,नुय ।
कनि प्यठ मा ज़ाह बीजुक शुवनुय ॥

वैराग्य से रहित केवल शास्त्रज्ञान का अभ्यास ऐसा होता है जैसे पत्थर के ऊपर बीज बोना होता है । पत्थर के ऊपर बोया हुआ बीज कभी भी अङ्कुरित नहीं होता है । इसी तरह से वैराग्यहीन मानव का शास्त्रज्ञान कभी सफल नहीं होता है ।

८८) वैराग्यवान भाग्यवान शिवभक्तिय ।
स्वज्ञानमान ज़ीवन्तोमुक्तय ॥

वैराग्यवाला भाग्यवान शिव भक्त् ही आत्मज्ञान की प्राप्त कर सकता है और वही शरीर धारण किए ही जीवन्मुक्त बन जाता है ।

८९) वैराग्यवान सुज्ञानी बननुक ।
सत्पात्र ज्ञान विचन गननुक ।

वैराग्य वाला साधक ही सत्यज्ञानवान् बनने का अधिकारी

होता है। वही ज्ञान की गहरी अनुभूति के योग्य पात्र बन जाता है।

९०) सन्तोषामृत सत्य सन्तुष्ठय ।
वैराग्यरस सुन्तृप्तोपुष्टय ॥

वैराग्य के अमृत से सन्तुष्ट बना हुआ साधक ही उसी वैराग्य के रस से तृप्त भी हो जाता है और उसी से हृष्टपुष्ट भी हो जाता है।

९१) चित्त । योदवय सन्तोषामृत चख ।
तृष्णां छलछांगरिनि़श मुकलख ॥

हे मेरे चित्त, यदि तू सन्तोष रूपी अमृत का पान करेगा, तो तू तृष्णा की अशान्ति से मुक्त हो जाएगा।

९२) सन्तोष छुय धन खोत धन सतकुय ।
सत्पुरुषव मोनमुत पतवतकुय ॥

अनादि काल से ही सत्पुरुष इस बात को मानते आए हैं कि सन्तोष ही बहुमूल्य धन से भी बढ़ चढ़ कर एक धन है और वह सत्य का धन है।

९३) चित् शमनस ह्यू.ह ना अमृत कँह ।
शमनय रोज़नस ह्यू.ह नामृत कँह ॥

चित्त के शमन के समान कोई अमृत नहीं है । शान्त न रहने के समान कोई मृत्यु नहीं है । अर्थात् अशान्ति मृत्यु से भी अधिक कष्ट देने वाली होती है ।

९४) शमसुस्तिस छ्रिय वज वज चन्दन ।
शमसुस्तिस सज्ज़न छ्रिय निर्बन्धन ॥

शम वाले साधक के लिए जगह चन्दन के ही वन हैं। तात्पर्य यह है कि उसके लिए सर्वत्र आनन्ह ही आनन्द है । शमवाले सज्जन बन्धन रहित हैं, अर्थात् जीवन्मुक्त है ।

९५) सत पात्र शमि चित सत्संगै ।
शोक मोहस छ्रिय नित उलङ्गी ॥

सत्पात्र का चित् सत्सङ्ग से शान्त हो जाता है। वह नित्य ही शोक और मोह का उल्लङ्घन करसकता है, अर्थात् उस पर शोक और मोह का प्रभाव नहीं पड़ता ।

९६) सत्संग मुकलावि ज़्यनसङ्कर तुय ।

सत्संस मुकलावि मृतभङ्गव तुय ॥

सत्सङ्ग तुम्हें लगातार जन्मों की परम्परा से मुक्त कर देगा। सत्सङ्ग तुम्हे लगातार मृत्यु का परम्परा से भी मुक्त कर देगा।

९७) सतसंग बूज़ित सीव सत् सुविचार।
सत्विचार रूज़ित् स्थित् मूनाधर ॥

सत्सङ्ग से उपदेशों को सुन कर तू सद्विचारों का सेवन कर। सद्विचारों में ठहर कर तू मौन धारण कर ले।

९८) सत्विचारी ब्यह अन्तमुर्ख।
ध्यच् सत्य प्रांवित अन्तमुर्ख सुख ॥

सद्विचारों में स्थिर होकर तू अन्तमुंखता की अवस्था में ठहर। उस में ठहरने से अन्तमुंख आत्मसुख को प्राप्त करके तू उसी स्थिति में ठहर।

९९) भाग्यवान यिम अन्तमुर्ख आसान।
सर्वान्तर मधये छि निर्वासन ॥

वे ही भाग्यवान हैं जो अन्तमुंख स्थिति में ठहरते हैं।

वे अन्तर से भी अन्तर स्वरूप में टहरते हुए वासना से रहित होते हैं ।

१००) प्रपंच रोस पाथिन यव' कांह शै ।
शयि रोज़ सार्यसिय सत्य मीलित छु ।।

यद्यपि कोई भी स्थान तुम्हें प्रपञ्च से शून्य नहीं मिलेगी । फिर भी तू निश्चिन्त रह, क्योंकि ईश्वर सर्वत्र ओत प्रोत भाव से विद्यमान है । तात्पर्य यह है कि तू सारे प्रपञ्च के भीतर ईश्वर को ही देखता हुआ निश्चिन्त रहा ।

१०१) खसवुन आरुरुत्त वन्त कव ज़ानि ज़य ।
यव ज़य प्रांवित रोज़, बोज व, वनय ।'

मोक्षमार्ग में उत्तरोत्तर चढने की इच्छा करने वाला किस तरह से विघ्नों पर विजय पासकता है और किस तरह से उस विजय से ऊपर ऊपर की भूमिकाओं को प्राप्त कर सकता है ? सुनिए, इस विषय में मैं इस प्रकार से कह रहा हूँ :–

१०२) सकंल्पन मन त प्राण क'रि च़ोभन ।
वासनावात उफवुन पंछी ज़न ।।

मन संकल्प करता रहता है, प्राण चित्त में चञ्चलता

लाता रहता है और वासना की आंधी उड़ते हुए पक्षी की तरह चञ्चल बनाए रखती है ।

१०३) मन प्राण साधक । बिहनाव आदौ ।
तिय कोर' सिद्ध आंद्यसिद्धव त साधव ॥

हे साधक, तू पहले पहल मन और प्राण को स्थिर करके शान्तभाव में ठहरा ले । सभी आदिसिद्ध महापुरुषों ने और साधुओं ने भी तो इसी बात को सिद्ध किया है; अर्थात् उन्होने भी इसी बात का उपदेश किया है ।

१०४) निर्विकल्पय आसन धार निष्चल ।
निर्विकल्पय सन्यास गव निर्मल ॥

तू फिर निर्विकल्प स्थिति में ठहर कर निश्चल भाव से आसन जमाए बैठ जा । निर्विकल्प भाव में ठहरनाही निर्मलता है और वही सच्चा सन्यास होता है । निर्विकल्प भाव का तात्पर्य यह है कि मन विषयोन्मुख संकल्प विकल्प छोड़ कर शान्त भाव में बैठ जाए और किसी भी प्रकार की विषयोन्मुख चेष्टा न करे ।

१०५) निर्विकल्पय आसुन गव आसन ।
निष्चल आसुन गव निर्वासन ॥

निर्विकल्प अवस्था में ठहरना ही उपासन कहलाता है ।

चित्त का इस तरह से निश्चलभाव में ठहरना ही वासनाहीनता कहलाता है ।

१०६) निर्विकल्पय सिद्ध गव प्राणायाम ।
निर्विकल्पय मन सपदिय निष्काम ।

निर्विकल्प में ठहरने से ही प्राणायाम भी सिद्ध होजाता है; (क्योंकि उस प्रकार से ठहरने के अभ्यास के दृढ बन जाने पर प्राण और अपान की गति स्वयमेव विना यत्न के ही रुक जाती है) । निर्विकल्प भाव के अभ्यास से ही तुम्हारा मन निष्काम बन जाएगा ।

१०७) निर्विकल्प स्थूल ज़ाग्रत शोमराव ।
निर्विकल्पय सूक्ष्म भावति शून्याव ।।

निर्विकल्प स्थिति के अभ्यास से स्थूल जाग्रत् प्रपञ्च को शान्त कर दे। निर्विकल्पस्थिति से ही सूक्ष्मभावों को भी शून्य बना दे; अर्थात् उन का भी लय कर ले ।

१०८) किंह कर वनि, लय कर सिद्ध स्वान्तर ।
यिथ ज़ाग्रत लय बनि स्वप्नान्तर ।।

किसी अनिर्वचनीय तत्त्व को पहचान ले (अर्थात् शुद्ध

चिदानन्दस्वरूप अपने आप को पहचान ले) उसी स्वत्मस्वरूप के भीतर अपने अन्तःकरण आदि के लय को सिद्ध करले । उसी तरह से जिस तरह से जाग्रत् प्रपञ्च स्वप्न के भीतर विलीन हो जाता है ।

१०९) स्वप्न स्थूल ज़ाग्रत-कुय गव संस्कार ।
सुपुत्त त्यलि यलि दुन भुवि संहार ॥

स्वप्नदशा और स्थूल जग्रत् दशा हो संसार कहलाता है; (क्योंकि प्रमेयोन्मुख विषय ज्ञान तथा प्रमेयोपभोग इन्ही दो अवस्थाओं में होते हैं) । सुपुप्ति दशा तभी प्रकट ही जाती है जब इन दोनों ही का, अर्थात जाग्रत्प्रपञ्च का और स्वप्नप्रपञ्च का संहार, अर्थात् लय हो जाता है

११०) चरिम यमि त्रशवय भासनांविन ।
यमि ब्योन स्वभाव ब्योंन ब्योन होवुन ॥

चौथी दशा वह चिन्मयी दशा होती है जिसने इन तीनों जाग्रत, स्वप्न और सुपुप्ति को आभासित किथा है । तात्पर्य यह है कि तुरीय चैतन्य ही के प्रकाश से सुपुप्ति आदि तीन दशाओं का अवभासन होता रहता है । उस चौथी दशा ने अर्थात् तुरीय चैतन्य ने ही इन तीन सुपुप्ति आदि दशाओं का अपना अपना भिन्न भिन्न स्वभाव अलग अलग रूप में प्रकाशित कर रखा है ।

१११)　　दुन कोर लय यमि स्वय सुषुप्ता ।
सुद्मानुसारी स स्वप्नावस्था ॥

जिस दशा ने स्वप्न कौर जाग्रत् इन दो अवस्थाओं का अपने भीतर लय किया, वह सुषुप्ति अवस्था होती है । जो अवस्था सूक्ष्मभावों का ही अनुसर करती, अर्थात् जिस अवस्था में सारा व्यवहार सूश्म वस्तुओं के साथ सूश्म शरीरों हीके द्वारा किया जाता है, वह स्वप्न की अवस्था होती है। (स्वप्न ससारतो विचारात्मक ही होता है, स्थूल पांच भौतिक नही होता । अतः वह सूक्ष्म कहलाता है) ।

११२)　　सुद्म स्थूलस सत्य यलि मिलनोवुन ।
स्थूल ज़ाग्रत तत्हनि नाव थोवुन ॥

जब सक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर के साथ एकभाव में मिला लिया जाता है, अर्थात जब प्राणी अपने आप के विषय में चित्त के साथ ही साथ स्थूल भौतिक शरीर पर भी अपने अहम्भाव रूपी अभिमान को एक साथ ठहराता है, तो उसी मिले जुले सूक्ष्म–स्थूल प्रपञ्च को जाग्रत नाम दे देता है । तात्पर्य यह है कि जाग्रत् नाम दे देता है । तात्पर्य यह है कि जाग्रत् उस अवस्था को कहा जाता है । जिसमें सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही शरीर मिलजुल कर एक साथ एक भाव में ठहर कर काम करते हैं ।

११३)   मध्यभूत युस त्र'शवज सूत्रवत् छय ।
त्रशवय ज़ड स्वय संवित् चिन्मय ॥

इन तीनों अवस्थाओं के भीतर माला के धागे की तरह जो अवस्था ओत प्रोत भाव से ठहरी रहती है वही चिन्मयी संवित् है । उसी को तुरीया सवित् कहते हैं ।

११४)   क्रीडास्थान तमन्दिय छिय त्रशवय ।
सय क्रीडा वर्तावित अक्रिय ॥

उसी तुरीया सवित् के क्रीडा स्थल मात्र ही ये तीनों जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के प्रपंच हैं । वह तुरीया सवित् इस समस्त क्रीडा का व्यवहार करती हुई भी सदैव अक्रिय ही ठहरती है । तात्पर्य यह है कि वह समस्त व्यवहारों को चलाती हुई भी कर्मबन्धन में नही पड़ती है ।

११५)   अक्रिय आत्मा त्र'शवथ वर्तावित ।
त्यलि मा कॆंह यलि युस'हन त्रावित ॥

तीनों दशाओं में व्यवहार करता हुआ भी आत्मदेव अक्रिय ही बना रहता है । यदि इन तीनों की क्रीडा का वह परित्याग करे तो वह शून्य रूप ही हो जाए । (वैसा होजाता हुआ अपने

चैतन्य का तथा अपनी सत्ता का भी परित्याग करे अतः ये तीनों प्रपञ्च मिथ्या न होकर आत्मदेव की लीला ही हैं) ।

११६) त्र'शवनि वेशि गछि क्रीडा सम्मुख ।
साक्षी चित् रूप भूगित सोर सुख ॥

साक्षी बनी हुई चिद्रपा तुरीया संवित् तीनों जाग्रत् आदि के प्रति क्रीडा करने में लगी ही रहती है । इन तीनों की लीला का सुख वही तुरीया संवित् ही भोगती हुई क्रीडा में लगी रहती है । तात्पर्य यह है कि जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाएं तुरीया सवित् की लीली-मात्र ही हैं ।

११७) त्रशवञ मा बल, तस करि थफ कांह ।
चैतन्य मा करि तिहुन्दुय ज़प कांह ॥

जागृत् आदि तीनों में अपना सामर्थ्य तो कोई है ही नहीं । अतः इन तीनों में से उस तुरोय संवित्-स्वरूप चैतन्य को कोई जान नहीं सकती । तुरीय चैतन्य उन की आराधना क्यों करे । वह तो उनके साथ खेल ही खेलता है । उनकी उपासना नहीं करता । वह तीन ही तुरीय चैतन्य को उपासना करती हैं ।

११८) यलि यत कुन गछि त्यलि तिय उदयस ।
गछिनय कुन, गव सोरुय प्रलयस ॥

जब जिस दशा के प्रति वह तुरीया संवित् उन्मुख हो

जाती है, तब वही दशा उदय को प्राप्त होती हैं, अर्थात् प्रकट हो जाती है। । यदि वह किसी के भी प्रति उन्मुख न होवे, तो सर्वप्रलय हो जाए ।

११९) त्रन त्रांवित चूरिम थाव अनुभव ।
तिय भाव यिय आज्ञा कर गुरव ॥

तीन जाग्रत् आदि दशाओं को छोड़ कर चौथी दशा का ही अनुसन्धान करता रह। उस वस्तु की भावना कर जिस की भावना करने का आदेश गुरुओं ने दिया है ।

१२०) वेदक मात्रय वुधि व्यद वेदान्त ।
"चैतन्यम् आत्मा" सिद्ध सिद्धान्त ॥

वैदिकमन्त्रों से वेदान्त की विधि से और विवेक बुद्धि से यही सिद्धान्त सिद्ध होता है कि चैतन्य ही आत्मा है । चैतन्य तुरीय चेतना को कहते हैं। शिवसूत्र का भी यही कहना है कि 'चैतन्यन् आत्मा' । यही सिद्धजनों का सिद्धान्त है ।

१२१) लल्लीश्वरि शिव पूज़ व्यस्तोरय ।
लल्लवावयस सून्य छुय सुद्बुध लोरुय ॥

लल्लेश्वरी ने शिवस्वरूप आत्मा के स्वरूप की सच्ची

व्याख्या की है । लल्लवाक्यों में आत्मस्वरूप का ज्ञान निहित है।

१२२) चंद्रिय राह ग्रोसुन मावसि ।
शिव पूज़ुन गाह चि़दात्मसि ॥

चन्द्रमा ने चिदात्मा शिव की पूजा करके अमावस्या के दिन राहु का ग्रास किया । तात्पर्य यह है जिस जीव ने स्वात्म शिव की अभेद पूजा यथार्थ विधि से की, उसने असम्भव बात को भी सम्भव बना डाला, अर्थात अन्त: करणों और बाह्य करणों की सहायता के बिना ही और अशरीर बनकर ही अज्ञान रूपी राहु को निगल डाला, अर्थात् उसे नष्ट कर डाला ।

१२३) सोम तय सूर्य स्वर करखय ऊर्ध्वमुख ।
यलि दुशवय लय त्यलि प्रावख सुख ॥

यदि तू अपान और प्राण रूपी चन्द्रमा और सूर्य को ऊपर की ओर अर्थात् कुण्डलिनि के ऊपरी चक्रों की ओर अग्रसर कर देगा, तो जब वे दोनों ही वहां लीन हो जाएगे तो तभी तू परम आन्द को प्राप्त कर लेगा ।

१२४) भज़नय पज़ि पोज दर्शन हाविय ।
चि़त् चन्द्रमण्डल वॅषन त्राविय ॥

इस कुण्डलिनी योग का यदि अभ्यास करोगे तो उससे वह योग वास्तविक सत्य तत्त्व का दर्शन तुम्हें करा देगा। उस योग के सिद्ध हो जाने पर चिदात्मक चन्द्र मण्डल अर्थात् सहस्रारचक्र में ठहरा हुआ चन्द्रमा अमृत की वर्षा कर देगा।

१२५) ज्योतिष्मान शीतल शीतांशु ।
ऊर्ध्वभूमि प्रज़ले ऊर्ध्वाम्नु ॥

शीतल किरणों वाला, ठण्डा तथा चमकता हुआ चन्द्रमा ऊर्ध्व कुण्डलिनी में अर्थात् कुण्डलिनी के ऊपरवाले चक्र में उस दशा में तुम्हें प्रज्वलित हो जाएगा। उस अवस्था में कुण्डलिनी के ऊर्ध्वभाग में तुम्हें सौर, मर्गशिखा आदि ऊर्ध्वाम्नाय नामक उत्कृष्ट त्रिक शास्त्रों के रहस्य खुल जाएगे।

१२६) सोमनाथ शिव पर, दर्शन हाविय ।
बाह्यान्तर सोमरस तर्पाविय ॥

स्वयं सोमनाथ शिव तुम्हें उस अवस्था में अपने परस्व रूप का दर्शन दिखा देंगे। वह तुम्हें बाहर से और भीतर से दोनों ओर से सोमरस से तृप्त कर देंगे।

१२७) ऊर्ध्वाम्नाय मन्त्र ज्ञान सिद्ध सपदिय ।
ऊर्ध्वाम्नाय विज्ञान विध सपदिय ॥

उस अवस्था में तुम्हें ऊर्ध्व.आम्नाय शस्त्रों के मन्त्रों का तथा उन ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होगा । साथ ही तू उस ऊर्ध्वाम्नाय शास्त्र के विज्ञान से भी परिचित हो जाएगा। किसी सिद्धान्द को बुद्धि के द्वारा समझ लेना उसका ज्ञान कहलाता है । फिर उसे क्रिया द्वारा अनुभव में लाना उसका विज्ञान होता है ।

१२८) ज़ानि योद कांह सिद्ध भाग्यवग्न आसिय ।
भैरवानुग्रह पात्रस अवभासिय ॥

यदि कोई भाग्यवान् सिद्ध पुरुष कहीं होगा तो वह इस वस्तु को जान सकता है । इस तत्त्व-ज्ञान का सपष्ट अवगाम उसी को होगा जो भैरवात्मक शिव के अनुग्रह का पात्र बना है । भैरव अभेद मय शिवभाव पर ठहरे हुए प्राणी को कहते हैं ।

१२९) ब्यथि बोज़योद कांछक ह्यियिकास ।
शयि रोज़ तिय च, वनय बोज़वुन आस ॥

और भी सुनो—यदि तू अपने हृदय के विकास को चाहता है तो होश से रहो, अर्थात सावधान रहो और जो कुछ मैं कहूँगा उसे सुनते रहो ।

१३०) ज़िन वरनुक योद छ़ोटरावख न्याथ ।

निर्वासिन पद छुय मोक्षोपाय ॥

यदि तू जीने और मरने की इस समस्या को क्षीण करना अर्थात् सुलझाना चाहता है, तो तुम्हारे लिए उस समस्या से मुक्त होने का उपाय वासना शून्य बनना ही है ।

१३१) मरि युस अमर-पग्न मर मान ।
ध्यरि युस अमर-पान पाज़ाने ।'

वही मरेगा जो अपनी अमर आत्मा को मरणशील माने। वही सर्वथा नित्य बन कर रहेगा जो अपनी अमर आत्मा को परमात्मा ही जान लेवे ।

(अथ तृतीयः समुल्लास,)

१३२) निश्चिन्त व्यह चित्त चिन्तन मोंकर ।
सुर मात्रय अक्षय-आत्मा ध्यान धर ॥

हे मेरे चित्त तू निश्चित होकर बैठ, अर्थात् अपने भीतर किसी भी संकल्प विकल्प का उदय होने मत दे। निश्चिन्त बना रहे। कुछ भी मत कर। अर्थात् सारी शारीरिक और मानसिक क्रियाओं को छोड़ दे। उस अक्षय आत्मा का ध्यान रखजिसका स्वरूप केवल आदि स्वर है। अर्थात् हे चित्त तू आत्मा के ही अभिमुख होकर निश्चेष्ट अवस्था में ठहर।

१३३) निष्चि़न्त ब्यह यु थनिष्कल आकाश ।
निष्चि़न्त चि़न्यय मूर्ति स्वप्रकाश ॥

तू उस तरह से निश्चिन्तभाव में बैठ जिस तरह शुद्ध आकाश क्रियाशुन्य और अशशुन्य होता है। तू संकल्प विकल्प रहित स्वप्रकाश चैतन्य स्वरूप ही है, तो उसी स्वरूप में बैठने का अभ्यास कर। निष्कल शब्द से अश-अंशी-भाव से रहित एक असीम और परिपूर्ण रूप से तात्पर्य है।

१३४) निष्चि़न्त ब्यह कैंह म, रठ कैंह मौ त्राव ।
रटखय रठ चि़त् चि़न्मय स्वभाव ॥

तू निश्चिन्त होकर बैंठ। शरीर से, मन से या वाणी से न ही किसी विषय का ग्रहन कर ले और न ही किसी विषय का परित्याग कर ले। यदि ग्रहण करना ही है तो अपने चिन्मय संवित् स्तभाव का ही ग्रहन कर ले।

१३५) निष्चि़न्त ब्यह कैंह म, कर सय छय क्रय ।
शुद्ध चि़न्मय चेतन परमात्मय ॥

तू निश्चिन्त बैठ और शरीर से या वाणी से या अन्तःकरण से कुछ भी मत कर। यही क्रिया सर्वोत्तम क्रिया अर्थात् सर्वोत्तम साधना है। तू शुद्ध चिन्मय संविद्रूप परमात्मा ही है, तो उसी रूप में ठहरने का अभ्यास कर।

१३६) निष्चिन्य ब्यह पूरित पान-पानय ।
निष्क्रिय आनन्दमय विज्ञानय ।।

अपने आप में ही अपने आप को ही अपने आप से ही परिपूर्ण बना कर तू निष्क्रिय बनकर आनन्दमय और विज्ञानमय स्वरूप में ठहर।

१३७) निष्चिन्त ब्यह तियकर यिन करनुय ।
वेद्य वेदन शून्य वेदक सुरनुय ।।

तू निश्चन्त भाव में बैठकर वही त्रिया (साधना) कर जिसमें कुछ करना ही नहीं होता है। वेद्य विषय और वेदन रूपी जानने की क्रिया से रहित जो वेदक, अर्थात् अनापेक्षिक प्रमाता है, उसी के संवित् स्वरूप का अनुसन्धान करना ही साधना है।

१३८) स्वरमात्रय शिव तुत् क्षितिपर्यन्त ।
कँह मौ रोज़ चित रोज़खय निश्चिन्न ।।

हे चित्त तू केवल आदिस्वर के रूप में ठहर। शिव तत्त्व से पृथ्वी तत्त्व तक वही एक मात्र अकार रूप पर शिव ही है। तू किसी भी अन्य वस्तु के स्वरूप में मत ठहर तब तू निश्चिन्त भाव में ठहर सकेगा।

१३९)　स्वर मात्रय, युथन रोज़क ब्ययि कॅह ।
यिय छुय सत, युथन वोज़क ब्ययि कॅह ॥

तू एक मात्र अकार के रूप में ही ठहर । और किसी भी अन्यरूप में मत ठहर । यही बात सत्य है । और किसी भी बात को कभी मत सुन । यही उपदेश वास्तविक सत्य सदुपदेश है । इस को छोड़ कर और किसी भी उपदेश को मत सुनना ।

१४०)　निश्चिन्नार्थ बोज़ चिन्तारोस्तुय ।
स्वस्थो संन्यासकि बोध सोस्तुय ॥

निश्चित शब्द का अर्थ तू सुन ले । चिन्ता रहित अर्थात् संकल्प-विकल्य रहित निश्चिन्त कहलाता है । उस अवस्था में साधक स्वस्थ अर्थात् अपने स्वरूप में ही स्थित हो जाता है। वह अन्य सब वस्तुओं के सन्यास के, अर्थात् उनसे सर्वथा मुक्ति के, बोध से युक्त होकर रहता है ।

१४१)　निश्चिन्त गव अव्यय शिव केवल ।
स्वप्रभा भास्वर रूप स्व केवल ॥

निश्चिन्त अर्थात् अकिञ्चित्-चिन्तक एक मात्र विकार रहित शिव हो होता है । वह अपने ही प्रकाश से चमकता हुआ

केवल परनाद ही होता है । परनाद से (रवसे) यहां परिपूर्ण अहांविमर्शमय नाद ही अभिप्रेत है। उसी में ठहरे रहना निश्चिन्तता की साधना होती है । इसे शाम्भवी साधना कहते हैं ।

१४२) चित स्वर थाव ब वनय सत् स्वरयोग ।
तव सेवन प्रावक आनन्दभोग ॥

हे मेरे चित्त तू सावधान बन कर सुन ले । मैं तुम्हें उत्तम और सच्चा स्वरयोग सुनाता हूँ । उसके अभ्यास से तू आनन्द का उपभोग प्राप्त करेगा । स्वर योग श्वास प्रश्वास की ध्वनि पर धारणा के अभ्यास को कहते हैं ।

१४३) मो चल चित स्वरभूमी स्थिर थाव ।
स्वर कर थ्यर छल छांगर मशराव ॥

हे चित्त तू इधर उधर मत भागता रह । तू स्वर भूमि को स्थिर रख । फिर तू अपने स्वर को भी स्थिर कर और इधर उधर भटकना भूल डाल ।

१४४) दर कर पछ केंह म, कर सत्स्वर बोज़ ।
चित ? स्वरमात्रय मुच स्वरमय रोज़ ॥

हे चित्त, तू पक्का विश्वास करले । और कोई भी कार्य

मत कर । चेवल वास्तविक स्वर को अर्थात् श्वास प्रश्वास की धर्वान को सुनता रह । तू (धीरे धीरे) केवल स्वर मात्र ही शेष रहजा और स्वर के ही आकार में ठहर ।

१४५) शब्दकि अर्थुक छुय स्वर जीवन ।
स्वर छु अक्षरात्मा संज़ीवन ॥

शब्द में जो अर्थ होता है, उसका जीवन स्वर होता है । स्वर अविनश्वर आत्मा है । यह जड शरीरादि में प्राण फूंकने वाला है ।

१४६) स्वर विन केंह मो स्वर, स्वर स्थिर थाव् ।
चित केवल स्वरमात्रय अनुभाव ॥

हे चित्त तू स्वर को छोड़ कर और किसी भी विषय का चिन्तन मत कर । तू स्वर को स्थिर बनाए रख और केवल स्वर की ही अनुभूति करता रह ।

१४७) स्वस्वभावय स्वर छुय सर्वव्यापी ।
छोप स्वर छुय स्वज़पाज़प ज़ापी ॥

तुम्हारा अपना स्वभावभूत स्वर सर्व-व्यापक है । मौनभाव में रहने पर स्वर ही अजपा का जाप करता रहता है ।

१४८) चित ? स्वर, स्वर सोरुय छुय स्वरमय ।
पूरित छुय स्र त्रिभुवन परमय ॥

हे चित्त, तू स्वर का ही चिन्तन कर। सब कुछ स्वरमय मह ही है। समस्त त्रिभुवन में यह उत्तम स्वर ही भरा हुआ है अथवा स्वर में ही तीनों भुवन भरे हुए हैं अर्थात् उसी के भीतर विद्यमान हैं।

१४९) सर्वात्मा स्वर छुय साक्षात्कार ।
स्वर छुय सर्वात्मा सर्वाधार ॥

स्वर ही साक्षात्कार स्वरूप सर्वव्यापक परमेश्वर है। स्वर ही सब की आत्मा है और यही सब का आधार है। स्वर योग की साधना में भावना के द्वारा स्वर को इन स्वरूपों से युक्त देखा जाता है।

१५०) जीवन छुय स्वर जीवन त दीवन ।
ज़ीवन त दीवन स्वर संज़ीवन ॥

समस्त जीवों और देवताओं का जीवन अर्थात् उनका प्राण स्वर ही है। सभी जीवों और देवताओं को जीवन प्रदान करने वाला स्वर ही है।

१५१) सर्वाक्षर बीज़ स्वर स्थिर जानुन ।
शून्याति शून्य परमाक्षर मानुन ॥

तू स्वर को ही समस्त अक्षरों के रूप में सुन ले और उसे क्षणिक न मान कर सदा स्थिर रहने वाला जान ले । तू स्वर को ही शून्य से भी अतिशून्य अर्थात् महाशून्य परम-अक्षर (रूपी परब्रह्म) ही मान ले ।

१५२) स्वर मात्रय सत् परमार्थ मानुन ।
स्वर मात्रय सर्वशब्दार्थ ज़ानुन ॥

तू एकमात्र स्वर को ही सच्चा परमार्थ मान ले । समस्त शब्दों को और समस्त अर्थों को तू स्वरमात्र ही जान ले । अर्थात् तू ऐसा मान ले कि समस्त शब्द और उनके अर्थ सभी केवल स्वर स्वरूप हैं ।

१५३) बोजखय चित ! मो बोज़ स्वर विन केंह ।
रोजखय चित ! मो रोज स्वर भिन केंह ॥

हे चित्त यदि तुझे कुछ सुनना ही है, तो स्वर को छोड़ कर और कुछ भी मत सुन । हे चित्त यदि तू इस संसार में ठहरेगा तो स्वर को छोड़ कर उससे भिन्न और किसी भी रूप में मत ठहर ।

१५४) सत् आनन्द पूरिय बाह्यान्तर ।
चित् आनन्द पूरिथ युथ ईश्वर ॥

जिस तरह से ईश्वर चिदानन्द से भरा पड़ा है । उसी तरह से (यह स्वर योग), तुम्हें बाहर से और भीतर से भी सत्य आनन्द से भर देगा ।

१५५) सीवन तिम यिम अनुग्रह पात्र ।
जीवन शिव चैतन्य स्वर मात्र ॥

जो परमेश्वर के अनुग्रह के पात्र बन चुके होते हैं, वे ही स्वरयोग का सेवन कर पाते हैं । जीवों के शरीर में केवल शिवस्वरूप स्वर ही उनका चैतन्य होता है ।

(4)

१५६) वू वनय चित्त ! बियि बोज सत् वार्ता ।
सत् विन बियि कुनि मो जान सारता ॥

हे मेरे चित्त, में तुम्हें फिर एक सच्ची वार्ता बताऊंगा । तू उसे सुन ले । तू सत्य पदार्थ के बिना और किसी भी पदार्थ को सारयुक्त मत जान ले । तात्पर्य यह है कि स्वातम शिव ही सत्य पदार्थ है । शेष सभी पर्दाथ तुच्छ हैं। इसी सत्यवार्ता को ही तू हितकारी जान शेष वार्ताओं को निःसार और तुच्छ समझ ले ।

१५७) निष्कलता छय योगच भूमिका ।
शुद्ध भूमियि प्यठ पूज़ शिव-प्रतिमा ॥

निष्कलता योग की शुद्ध भूमिका होती है। तू उस शुद्ध भूमिका के भीतर शिव की प्रतिमा का पूजन कर। सामान्य व्यवहार में प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय तीन कलाएं काम करती हैं, परन्तु शाम्भव योग की भूमिका में एकमात्र प्रमाता ही शेष रह जाता है। अतः वह शाम्भवी भूमिका ही निष्कल भूमिका होती है।

१५८) जान न कैंछा ब दिमय हाविथ ।
तत्त्वं वाक्यार्थ कैंह ब थवय भाविथ ॥

मैं स्पष्टतया कुछ जानता ही नहीं जिससे मैं तुम्हें दिखा देता, अर्थात् बता देता। तात्पर्य यह है कि उसके विषय में कुछ स्पष्टता से जाना और कहा ही नहीं जा सकता। अब मैं "तत्त्वमसि" इस वाक्य का अर्थ कुछ बता कर रखूंगा।

१५९) अनुग्रह बुदि युस भाग्यवान आसि ।
सिद्ध कर सत् वाक्य तत्त्वमसि ॥

जो भाग्यवान होगा उसे ईश्वर के अनुग्रह से ही यह बात समझ में आएगी तू "तत्त्वमसि" इस महावाक्य के तात्पर्य को सोच समझ कर सिद्ध करले।

१६०) तत् शिव त्वं चेतन युस ज़ानवुन ।
सत् चित आनन्द रूपआसि पज़ॅनुन ॥

तत् पद का तात्पर्य वह जीवरूप चैतन्य है जो विषयों का जानने वाला है। वही इस वाक्य के विमर्श से अपने सच्चिदानन्दस्वरूप को पहचानने वाला है।

१६१) असि पुन्दि ज़ामि ज़ुवसि ।
लॅछ्नि वोन युस बथि त्रिह खसि वसि ॥

लल्लेश्वरी ने उसी शिव के विषय में यह कहा है कि उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप स्वात्म-शिव को सावधान साधक हंसी के, छींक के, जम्हाई के खांसने के उठने के और बैठने के क्षण में तथा इन भावों चढ़ने और उतरने के क्षन में अपने शिव-भाव को साक्षात् पहचान सकता है तात्पर्य यह है कि इन भावों के उदय से पहले और समाप्ति के पश्चात् क्षणभर के लिए शिवमयी अवस्था प्रकट हो जाती है। उसका साक्षात्कार सावधान साधकों को हुआ करता है।

१६२) सुय ज़ानुन निश छुय व्यवहारान ।
सकलोनिष्कल रूप छुय धारान ॥

उसी को तुम पहचान लो। वह तुम्हारे सामने समस्त व्यवहारों को चलाता रहता है। वही सकल और निष्कल रूपों

को धारण करता है। व्यवहारों के प्रारम्भ से पहले और अन्त के अनन्तर वह क्षण भर के लिए निष्कल रूप को धारण करता है और उनके आरम्भ से लेकर उनके अन्त तक वही सकल रूप को धारण करता है।

१६३) सकलावस्थासु सुय ज़ीवन ।
बाह्यान्तर विषयन सुय सीवन ॥

सकल अवस्थाओं में भी जीवन भूत वही है। अर्थात् उसी के चैतन्य पर सभी सकल अवस्थाए जीवित रहती हैं। इस इस सकल अवस्था में वस्तुतः वही बाह्य विषयों और आन्तर विषयों का सेवन करता है; क्योंकि वास्तविक भोक्ता तो वही है।

१६४) स्थूल सुक्ष्मस मंज़ यलि अनुभाविय ।
ज़ाग्रत् ज़ीव पानस नाव थाविय ॥

जब वह सूक्ष्मशरीर से युक्त स्थूल शरीर के द्वारा विषयों का अनुभव करता है, तब वह अपना नाम 'जाग्रत् जीव' ऐसा रख लेता है।

१६५) यवक्षण थवि पानस नाव स्वाप्निक ।
स्वप्नरूपानुसारी चित ऐनक ॥

जब अपना नाम स्वाप्निक जीव रखेगा, तो चित्त के ही द्वारा समस्त स्वप्न प्रपञ्च का अनुभव उसी के अनुसार करता रहेगा ।

१६६) सुक्ष्म ज़ाग्रत निश यलि भिनिरावि य ।
अतिमूढ सुषुप्ति सुख वुलसाविय ॥

जब सूक्ष्म और जाग्रत दोनों से ही भिन्न अवस्था को प्रकट करेगा, तो अति मूढ जैसा प्रकट होकर सुषुप्ति के सुख को उल्लसित करेगा ।

१६७) सत् सत्ता तस:जय छय त्रिशवञ मंज़ ।
उदुयस तीय, यलि करि तमिकुय संज़ ॥

इन तीनों अवस्थाओं के भीतर उसी की सच्ची सत्ता है अर्थात् उसी के चैतन्य की वास्तविक सत्ता के आधार पर इन तीन अवस्थाओं की अभिव्यक्ति हुआ करती है जब वह उसी शुद्ध चैतन्य का ही अनुसन्धान करेगा तो वही चैतन्य अपने शुद्ध रूप में उदित होगा ।

१६८) तसुन्दुय नाव सत् छुय सर्वकर्ता ।
सुय स्रष्टा, भर्ता, संहर्ता ॥

उसी का सच्चा नाम सर्वकर्ता है। वही सृष्टि करने वाला, धारण करने वाला अर्थात् स्थिति करने वाला, और संहार करने वाला है।

१६९) स्वातन्त्र्य शक्तिमत् सुय छुय शिव रुप ।
जीवाख्यः त्रिन वुलसिथ रव रुप ॥

वही स्वातन्त्र्यशक्ति से युक्त शिवरूप परमेश्वर ही जीव मुक्त नाम से तीनों जाग्रत आदि अवस्थाओं का उल्लास करता हुआ परनाद रूप है।

१७०) त्रिशव मंज मद छिव्योमुत जन ।
शिव सोमरस तस निश च्योमुत ज़न ॥

इन तीनों अवस्थाओं में मानों वह मस्ती से मस्त रहता है। मानो उसी में से कल्याणकारी सोमरस इन तीनों के भीतर टपक पड़ता है।

१७१) त्रिन मंज छुय जीवसुन्द युन त गछुन ।
पुरुषार्थं गव चूरिमि मंज अचुन ॥

जीव का आना जाना इन तीन ही अवस्थाओं के भीतर

हुआ करता है। वास्तविक पुरुषार्थ, अर्थात् मोक्ष तो चौथी तुर्या-नामक दशा के भीतर प्रवेश करना होता है ।

१७२) यिथ तिय छुय जीव बसवुन त्रिन मंज ।
चूरिमि हंदि जानुक कर केंह संज ॥

जीव किसी भी तरह तीन जाग्रत् आदि दशाओं में ही रहा करता है। तात्पर्य यह है की इन तीन दशाओं के ही भीतर विचरन करता जीवभाव होता है। अतः उससे छूटने और शीव-भाव में प्रवेश करने के लिए चौथी तुरीया दशा को साक्षातकार को प्राप्त केरने का कुछ प्रबन्ध तू कर ।

१७३) व वनय छुय जीव नाव तोत्तामत् ।
चूरिमि निशि विमुख छु योत्तामत् ॥

मैं यह कहूँगा कि किसी प्राणी का नाम तभी तक जीव है' जब वह चौथी तुर्यादशा से विमुख है, अर्थात् उससे मुख मोड़ कर जाग्रत आदि तीन दशाओं में ही विचरण करता रहता है ।

१७४) मुक्ति पदग व त्रिन हुन्द ज़डभाव गालुन ।
त्रिन मंज ज़ड भावुक ज्युन जालुन ॥

मुक्ति की दशा वह दशा होती है जिस में जाग्रत आदि तीन दशाओं की जडता नष्ट की जाए और उन तीनों के भीतर जो जडता की लकड़ी विद्यमान है, उसे जला डाल जाए। उस जडता को नष्ट करना और जडता की लकड़ी को जला डालना ही मुक्ति-पद होता है।

१७५) पुरुषुय छुय चूरिमि कुन सन्मुख ।
पुरुषुय भूगि चूरिमि पादुक सुख ॥

वीर पुरुष ही चौथी तुरीया दशा की ओर उन्मुख होता है और वीर पुरुष ही उसी तुरीया दशा का सुख भोग सकता है।

१७६) अनुभव सिद्ध यस चूं युम प्रकाश ।
त्रिशवय वंर्तावित छु गाशिय गाश ॥

जिस को तुरीया का प्रकाश अपने अनुभव से ही सिद्ध हो जाता है वह तीनों जाग्रत् आदि अवस्थाओं में व्यवहार करता हुआ भी केवल प्रकाश रूप शिव ही होता है।

१७७) तमि तमि रूप त्रिशवय वर्ताविथ ।
त्रिशवञ मंज़ चूर्यम अनुभाविथ ॥

वह तीनों का व्यवहार उस रूप में करेगा परन्तु फिर भी वह तीनों के ही भीतर तुरीया का ही अनुभव करता रहेगा।

१७८) स्थितिमान चूर्यम पाद आश्रित अयत ।
स्वानुभव रूप ज्योतिष्मान छुय न्यित ॥

चतुर्थ दशा का आश्रय लेकर उसी के भीतर ठहरा हुआ साधक नित्य स्वानुभवरूप प्रकाशात्मक शिव ही है ।

१७९) त्रिशवज्ञ हुंद जडभाव छुन कैंह तस ।
त्रिशवज्ञ वेशि तस कैंह छन खस वस ॥

उसे तीनों जाग्रत् आदि दशाओं का जडभाव जराभर भी स्पर्श नहीं करता है । उसे उन तीनों के विषय में कोई भी उतार चढाव नहीं होता है ।

१८०) वुनरन हुंज़ जांड छन यूथ सूर्यस ।
त्रिन हुंद जडभाव छुन तिथ वीर्यस ॥

जिस तरह से धुंध के कारण सूर्य वस्तुतः धुन्धला नहीं हो जाता है, उसी तरह से वीर साधक को जाग्रत् आदि तीन दशाओं का जडभाव नहीं होता है ।

१८१) अनुग्रह किञ चूर्यम यस छि प्रापत ।
ज़डभावच छिन तल कुनि आपत ॥

जिसे शिव के अनुग्रह के द्वारा चौथी तुर्या दशा की प्राप्ति हुई हो, उसे कहीं पर भी जड़भाव की आपदा नहीं घेरती है। अर्थात् वह संसारिक व्यवहारों के भीतररहता हुआ भी प्रकाशात्मक शिव ही होता है।

१८२) वीर्यात्मा अनुभव रूप त्रिन मंज़ ।
अज़ड आत्मा त्रिन हुन्द करि सोरसंज़ ॥

जड़ संसार के भीतर प्राणप्रतिष्टा करने वाला संसार का वीर्यरूप शिव तीनों जाग्रत् आदि दशाओं में अनुभव रूप से रहता है। वही चैतन्यस्वरूप आत्मा इन तीनों का सारा प्रबन्ध चलाता है। अर्थात् तीनों दशाए उसी के आश्रित होकर प्रकट होती हैं।

१८३) भैरव शक्तिपात यस वातिथ प्यव ।
चूर्युम स्वप्रकाश तस निश खुल गव ॥

जिस प्राणी पर शिव का अनुग्रह–शक्तिपात हुआ हो, उसी की दृष्टि के सामने तुरीया दशा का स्वाभाविक प्रकाश खुल जाता है। अर्थात् तुर्या का साक्षात्कार शिव के अनुग्रह से ही होता है।

१८४) तव पपत्कुन ज़डभाव प्राविन जांह ।
ज़िन मरनुक पाथि न तस वेह दाह ।।

उस साक्षात्कार के अनन्तर वह कभी भी जड़ भाव को प्राप्त नहीं करेगा। उसे जीने मरने का कोई भी कष्ट फिर भोगना नहीं पड़ेगा।

१८५) अमरात्मा अमृत पूरित पान ।
कुनि ज़डरूप कुनि सिद्ध कुनि विद्वान ।।

अमर आत्मा शिव अपने आप अमृत से परिपूर्ण है। वह स्वयं हीं कहीं जड़ भाव के रूप में, कहीं विद्वान के रूप में और कहीं सिद्ध योगी के रूप में प्रकट होता है।

१८६) मुक्तिरूप पंचिमि पादुक सीवक ।
ज्ञानानन्द रूप अमृत पीवक ।।

पांचवां पाद अर्थात् पांचवीं दशा तुर्यातीत-अवस्था होती है। उसका सेवन करने वाला मुक्तशिव होता है। वह ज्ञानानन्द रूप होता हुआ अमृत का ही पान करने वाला होता है। अथवा—पांचवीं तुर्यातीत अवस्था मुक्तिरूप ही होती है। उसका सेवन करने वाला ज्ञानानन्द रूपी, अर्थात् आनन्दमय ज्ञानरूपी, अमृत का पान करता रहता है।

१८७) यछ् खय चित्त ! सुय महिमा ज़ानक ।
सत्गुरमुख्र सत् वार्ता मानक ॥

हे मेरे चित्त, अगर तू चाहेगा तो उसी महिमा को साक्षात् जान लेगा। परन्तु उसे तू तब जान सकेगा जब सद्गुरु के मुख से कहे हुए सदुपदेश को ठीक तरह से मान लेगा।

(5)

१८८) स्वामिन् ! वखनन्तोम प्रावनच विध ।
कमि व्रुपयि प्रवि ज़न यि चूर्यम सिद्ध ॥

हे स्वामी आप मुझे तुरीयां अवस्था को प्राप्त करने की विधि बता दीदिए। किस उपाय से मैं उस तुरीयां अवस्था को सिद्ध कर सकता सकूँ।

१८९) स्वानि ! चूर्युम पाद किथ ? क्युथ सन ।
तति बसवुन वखनोव आनन्दघन ॥

हे स्वामी, ऊँकार का वह चौथा पाद अर्थात तुरीय पद किस प्रकार का होता है और कैसे होता है। वहां स्थित रहने वाले आनन्दघन स्वात्मा के विषय में मुझे व्याख्यान सुनाइए।

१९०) स्वामिन् ! चूर्यम शय कति आसन ।
ऊधर्वास्चः छा किन मध्य भासन ॥

हे स्वामी! वह चौथी अवस्था कहां होती है। क्या वह ऊपर उर्ध्वं कुण्डलिनी में होती है, या नीचे अध: कुण्डलिनी में होती है, अथवा दोनों के मध्य में होती है।

१९१) स्वामिन्! वन्त अन्तः छाकिन बाह्य?
अति चचंल छा किन निश्चल थाव ॥

स्वामी, आप बताइए कि वह पद भीतर होता है, या बाहिर। क्या वह दशा अति चञ्चल होती है, या निश्चल होती है।

१९२) आनन्ददा छा किन दु:खदायी।
मायारूप छा किन निर्मायी ॥

क्या वह स्थिति आनन्द देने वाली होती है या दु:ख देने वाली होती है। क्या वह मायारूप है या माया से अतीत है।

१९३) स्वातन्त्र्य रूप छा किन अनुमानय।
परप्रकाश छा किन, पानपानय ॥

क्या वह स्वातन्त्र्यरूप स्वयमेव सिद्ध है या उसकी सिद्धि अनुमान से होती है। क्या वह दूसरे से, अर्थात् प्राणियों की बुद्धि से, प्रकाशित होती है (अभिव्यक्त होती है), अथवा स्वयं अपने ही प्रकाश से प्रकट होती है।

१९४) धारना छा ध्यान छा किन छु ज्ञान ।
योग छा सन्नयास छा किन विज्ञान ॥

क्या वह अवस्था धारणा की अवस्था है या ध्यान की अथवा ज्ञान की अवस्था है । क्या वह योग है या सन्न्यास है या विज्ञानरूप है ।

१९५) पत्य चानुन छा कँह मन प्राणुक ।
अभ्यास किञ प्रावुन कुनि थानुक ॥

क्या मन का प्राण को विपरीत गति से अन्तर्मुख करना तुरीय पर होता है अथवा योग के अभ्यास के द्वारा किसी विशेष पद को क्राप्त करना वह पर होतता है ।

१९६) किन कुनि वेशि वासना थामि करनिय ।
किन कुनि वेशि निश्चल बुद्ध धरनिय ॥

क्या किसी आलम्बन पर वासना को ठहरा कर रखना वह पर होता है अथवा क्या किसी आलम्बन पर बुद्धि को निश्चल ठहराना वह पद होता है ।

१९७) कँब वुपाय छा किन अनुवोपायी ।

शांम्भव छा शाक्त छा अनुवोपायी ॥

क्या वह पद किसी उपाय की सहायता से प्राप्य है या अनुपाय ही है। क्या वह पद शाम्भव, शाक्त या आणव उपाय से प्राप्य है।

१९८) प्रकाशय ज़ानान छा सूर्यस ।
सूर्यय मानान जा सतवीर्यस ॥

क्या प्रकाश ही सूर्य को जान लेता है या सूर्य ही उस सच्चे वीर्य को अर्थात् स्वप्रकाश शक्ति धन को जानता है। सिद्धों की वाणी में सूर्य प्रमाण को कहा जाता है।

१९९) अनुमानौ किञ छा प्राप्त बन,नुय ।
किन अनुभव मात्रय निश नन, नय ॥

क्या अनुमानों के द्वारा वह पद प्राप्त होता है, कि स्वयं स्वानुभव मात्र से ही वैसा बन जाना होता है।

२००) किन ज़प तप मन्त्रकि अनुसारय ।
किन कर्मानुष्ठानक्रि द्वारय ॥

अथवा क्या जप, तप, या मन्त्र के अभ्यास से ही कर्मों

के अनुष्ठान ही के द्वारा वह तुरीय पद प्राप्त होता है ।

२०१) संक्षेप वखनवितोम प्राप्तोपाय ।
भ्रम रोस छोटरावताम न्यायान्याय ॥

आप मुझे उस पद की प्राप्ति का उपाय संक्षेप से स्पष्ट बताइए । इस विषय में आप न्याय और अन्याय को उस तरह से संक्षेप से बता दीजिए जिस तरह से मेरी बुद्धि में कोई भ्रम उत्पन्न न होने पाए ।

२०२) ववनय, योद हृदयिक कन धारक ।
तात ! सत् वोज़ किञ योद अनुसारक ॥

यदि तू हृदय के कानों को मेरी ओर लगा देगा, और यदि तू सद्बुद्धि के द्वारा समझ लेगा, तो, हे प्यारे, मैं तुम्हें कह देता हूँ ....

२०३) बाप न दे सो जो भाव देवे
नाशी ना जो स्वभाव देवे ॥

भक्ति भाव ज़िस वस्तु को देता है, उसे अपना पिता भी नहीं देता । जो वस्तु प्राणी को अपने स्वभाव से ही प्राप्त होती

है, वह वस्तु कभी नष्ट नहीं होती ।

२०४) गुरुवर छुय यिछि कथि आज्ञाकार ।
गुरुवर पाद सीवुक बारंबार ॥

इस ऐसी बात का आदेश देने वाला गुरुवर होता है । अतः तू बार बार गुरुवर के ही पादों की सेवा कर ।

२०५) सन्तुष्ट यस गुर तस शिव सन्तुष्ट ।
सत् मार्गस पकवुन सुय नित पुष्ट ॥

जिस पर गुरु सन्तुष्ट हो जाए, उस पर शिव भी सन्तुष्ट हो जाता है । वही सदा सन्मार्ग पर चलाता हुआ लगातार पुष्ट होता जाता है । अर्थात् उस के ज्ञान की पुष्टि नित्य ही बढ़ती रहती है ।

२०६) नित स्थितिमान आसि सत् सुज्ञानय ।
पूरि तस शिव हृदयस पानपानय ॥

सच्चे और यथार्थ ज्ञान वाला वह साधक नित्य ही उस तुरीया पद पर स्थिर रहा करता है । उस के हृदय को भगवान् शिव स्वयमेव परिपूर्ण करता रहता है ।

२०७) लय विक्षेप रोस्त बन थ्यत सीवान ।
सो यथा प्रारब्ध आसि नित ज़ीवान ॥

उस स्थिति का सेवन करता हुआ तू चित्त को निद्रा में लय होने नहीं देना और उसे विषयों की ओर विक्षिप्त भी होने नहीं देना । जैसा प्रालब्ध हो, वैसे ही नित्य जीवन-यात्रा चलाता रह ।

२०८) सन्तुष्टय सन्तुष्ट पाज पानय ।
हृदयानन्द पूरित सुज्ञानय ॥

सन्तोष रखने वाला महापुरुष स्वयं अपने आप से ही सन्तुष्ट रहता है । उसका हृदय आनन्द से और यथार्थ ज्ञान से परिपूर्ण रहा करता है ।

२०९) वैद्युत वनि वैध रोग निवारें ।
धर्मशास्त्र अज्ञान दोषन हारें ॥

वह वैद्य औषध के बिना ही तेरे रोग को दूर हटा देगा । धर्मशास्त्रों से तुम्हारे अज्ञान के दोषों को दूर करेगा ।

२१०) श्रवणय वनि निराश आशावान ।
श्रवणय अज्ञानी बनि निर्वाण ॥

शास्त्र श्रवण से निराश साधक भी आशावान बनेगा। श्रवण से अज्ञानी मानव भी निर्वाण को प्राप्त करेगा।

२११) **श्रवणय व्यय सुन्द वस ग्रनि पनतुय ।**
श्रवणय खटि-मटि वस्तुक ननन्‍य ॥

श्रवण से दूसरे की वस्तु अपनी बन जाती है। अर्थात् गुरु के पास जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान शिष्य को भी प्राप्त हो जाता है। श्रवण से गुप्त वस्तु भी प्रकट हो जाती है। अर्थात् सुगुप्त आत्मा का स्फुट ज्ञान हो जाता है।

२१२) **श्रवणय छय सर्व ज्ञानन हुन्द मूल ।**
श्रवणय करि शून्याति-शून्यस स्थूल ॥

श्रवण ही समस्त ज्ञानों का मूल होता है। श्रवण ही शून्य से भी शून्य वस्तु को स्थूल बना देता है अर्थात् अत्यन्त अस्पष्ट वस्तु को भी स्पष्ट कर देता है।

२१३) **श्रवणय सर्वपदार्थन हंज़ सिद्ध ।**
श्रवणय सर्वधर्मार्थन हंज़ विध ॥

समस्त पदार्थों की सिद्धि श्रवण ही होता है। श्रवण ही समस्त धर्मों और अर्थों को प्राप्त करने की विधि अर्थात् उपाय है।

२१४) श्रवणय शिव गुर श्रवणय सत-शिषय ।
श्रवणय विश्वेश्वर, श्रवणय विश्व ॥

श्रवण हीं शिवरूप गुरु है। श्रवण ही सच्चा शिष्य है। श्रवण ही विश्व का ईश्वर है। श्रवण ही सारा विश्व है।

२१५) श्रवणय फलदाता सत् मननय ।
माननय कस क्या सिद्ध बनि वननय ॥

श्रवण का सच्चा फल देने वाला मनन ही होता है। विना मनन के केवल कहने से किस को किस फल की सिद्धि हो सकती है।

२१६) मननय औषध रोग निवारिय ।
मननय पुण्य पापुक दोष हारिय ॥

मान लेने से ही औषध तेरे रोग को हटाएगी। अथवा मनन रूपी औषध ही तुम्हारे अज्ञानरूपी रोग को दूर करेगी। मनन का अभ्यास ही तुम्हारे पुण्यों और पापों के दोष को दूर करेगा।

२१७) मानन विन खोट-मुत साक्षात्कार ।

मानन विन ओंकार छुन उपकार ॥

मनन के विना आत्मसाक्षात्कार आवृत रहा करता है अर्थात् छिपा रहुता है मनन के विना ॐकार भी । कोई उपकार नहीं कर सकता ।

२१८) मानन विन छुन मन्त्र सिद्धिदा ।
मानन विन छुन सिद्धदा सेवा ॥

मनन के विना मन्त्र भी सिद्धि नहीं दे सकता । सेवा भी मनन के विना सिद्धिप्रद नहीं बनती ।

२१९) सुय मानि विध युस आसि मननात्मा ।
सुय ज़ानि ज्ञान युस चित् धन आत्मा ॥

वही विधि को मान लेगा जो मनन शील होगा । वही ज्ञान को जानेगा जो स्वय चिद्घनस्वरूप हो ।

(7)

आदौं छय निवृत्ति सर्व कारण ।
भाग्यवान तिम यिम निवृत्ति धारण ॥

पहले तो निवृत्ति ही सब सिद्धियों का कारण है वे लोग भाग्यवान होते हैं जो निवृत्ति को चित्त में धारण करते हैं ।

२२१) भाग्यवान छिय नित् मोक्षोपायी ।
सुय परिज्ञान छुय आनन्दोयी ॥

भाग्यवान जन नित्य मोक्ष के उपायों का अभ्यास करते रहते हैं। उन उपायों का ठीक ठीक ज्ञान आनन्द देने वाला होता है।

२२२) र संकल्प संन्यासी ।
नित वेहवुन आसि सत अभ्यासी ॥

समस्त बाह्य विषों और आन्तर विषयों के सकल्पों का परित्याग करके जो नित्य बैठा रहता है, वह सच्चा अभ्यासी होता है ।

२२३) सद्गुर आज्ञायि वेशि बनि सन्मुख ।
अति निष्कल ब्ययि त्यागित सर्व दुःख ॥

वह सद्गुरु की आज्ञा के प्रति नित्य उन्मुख बना रहता है, अर्थात् सदा उसी के अनुसार चलने के लिए उद्यत रहता है। वह समस्त दुःखों से छुटकारा पाकर अतीव निष्कल बना रहता है अर्थात् काम्य कर्मों के प्रपञ्च में नहीं फंसता है ।

२२४) केवल सन्मात्रच प्रतिष्ठा ।

दर करि भूधर ज़न सत् निष्ठा ॥

वह एक मात्र सच्चे आत्पतत्व पर ही प्रतिष्ठित होकर उस सन्निष्ठा को उतना दृढ़ बना देता है जितनी दृढता से पहाड़ पृथ्वी पर ठहरे रहते हैं ।

२२५) सन्मात्रय ओतन अनुभावे ।
बुद्धि कौशल अन्य चिन्तन त्रावे ॥

वह एकमात्र सत्य आत्म-तत्त्व का ही अनुभव करता रहता है । वह मन के चिन्तन को और बुद्धि की कल्पनाओं को छोड़ देता है ।

२२६) सन्मात्रय छु सर्वसत्ता धारिथ ।
सन्मात्रय छु शून्यस थर' खारिथ ॥

एक सन्मात्र आत्मदेव ही समस्त विश्व की सत्ता को धारण किये हुए है । सन्मात्र ही शून्य के ऊपर सब कुछ आरोपित करके ठहरा है ।

२२७) सन्मात्रय द्रासुत छु प्रथ द्रारय ।
सन्मात्रय छु क्रीडान स्व स्फारय ॥

प्रत्येक इन्द्रियद्वार से सन्मात्र आत्मा ही बाहर निकला है। सन्मात्र ही अपनी ही शक्ति के स्फार के द्वारा नित्य क्रीडा करता रहता है।

२२८) बाह्यान्तर सन्मात्रच सत्ता।
बुलसाविथ ज़डद्वारच सत्ता ॥

बाहर और भीतर केवल सन्मात्र आत्मदेव की ही सत्ता है। उसी की सत्ता इस जड़ जगत् की सत्ता को उल्लासित करके ठहरी हुई है।

२२९) सन्मात्रय यति तति रूप धारान।
सीवित सन्मात्रय तिय छु सारान ॥

जहां तहां सन्मात्र ही अनन्त रूपों को धारण करता रहता है। इस समस्त प्रमञ्च का सेवन करके सन्मात्र ही साररूप में शेष रह जाता है।

२३०) प्राणेन्द्रिय शान्त सीव तस वेशे।
भ्रान्त शान्त एकान्त सीव तस वेशे ॥

उसी के निमित्त से तू प्राणों काइन्द्रियों का और शान्त भाव का सेवन कर। भ्रामात्मक व्यवहार का, शान्त व्यवहार का और एकान्त का

सेवन उसी के निमित्त से करता रह ।

२३१) धारणा दित् गारुन ऐकान्ती ।
सन्मात्रस वेशि सीव चित् शांन्ती ॥

तू धारना लगाकर उसे एकान्त में ढूँढ ले । सन्मात्र के ही लिए तू चित्त शान्ति का भी अभ्यास कर ।

२३२) याज चित शान्त, ताज गज सा'र्य भ्रान्त ।
प्रलयावस्था स्वस्थो शान्त वेदान्त ॥

ज्यों ही चित्त शान्त हो जाता है, त्योंही सारी भ्रान्ति गल जाती है । वह अवस्था प्रलय की जैसी होती है । उस अवस्था में प्राणी अपने स्वरूप में ठहरने लगता है । वह वेदान्त की शान्त अवस्था होती है ।

२३३) सन्मात्रय चिन्मात्रय मुचि गूथ ।
परमात्मा शान्त वेदान्त शिव न्यथ ॥

उस अवस्था में सन्मात्र, चिन्मात्र और शान्त परमात्मा रूपी वेदान्त का नित्य शिव तत्त्व ही अवशिष्ट रहता है ।

२३४) परमानन्द-घन शिव शान्तातीत ।

चैतन्य तेज़ोमय स्थान वुलंगित ॥

परमानन्दघन परमशिव तो शान्तातीत कहलाता है। वह शुद्ध चैतन्य तो तेजोमय परमात्मा तत्त्व रूपी दशा से भी उत्तीर्ण होकर ठहरा रहता है।

२३५) स्थानातीत ध्यान शिवधाम गव सत् ।
सीवख्य युथ ध्यान सीवक सीव नित ।।

अवस्थाओं से उत्तीर्ण परमेश्वर पद का ध्यान ही सच्चा ध्यान होता है। यदि उस ध्यान का तू सेवन करेगा, तो नित्य ही उसका सेवन करना।

२३६) ध्यानोय ओत मुच् ब्ययि मौ रोज़ कें ।
धयानय ओत वोज़ ब्ययि मो वोज़ केंह ॥

तू ध्यान मात्र ही शेष रहजा, और कुछ भी शेष मत रह। तू केवल उस ध्यान मात्र को ही सुनता रह, और कुछ भी मत सुन।

२३७) ध्यानस मंज बुड इथ सागरस मंज़ ।
जल बिन्दस पाथिन कुनि केंह संज़ ॥

तू उस ध्यान में उस तरह से डूब जा जिस तरह समुद्र के भीतर जल की बून्द जब विलीन हो जाती है तो उसे अपना कुछ भी शेष नहीं रह जाता है ।

२३८) सत् समाधिमान विह इथ भूधर ।
सत् चिदानन्दधन बाह्यान्तर ॥

तू सत्य समाधि के भीतर उस तरह से स्थिर होकर बैठ जा जिस तरह पर्वत स्थिर बैठता है। तू बाहर और भीतर दोनों ओर से सच्चिदानन्दघन होकर बैठ ।

२३९) अनुग्रह यलि यिछ समाध प्रावि ।
बाह्यान्तर बुद्धिभ्रम निशि त्रावि ॥

ईश्वर के या सद्गुरु के अनुग्रह से जब साधक इस प्रकार की समाधि को प्राप्त करेगा,तो तब वह समस्त बाह्य जगत और आन्तर जगत के विषय में बुद्धिभ्रम का परित्याग करेगा । तात्पर्य यह है कि उसे आभ्यन्तर और बाह्य जगत शिवात्मक ही देखेगा, जगदात्मक नहीं देखेगा ।

२४०) यस यिछ थ्यत् अनुग्रह किञ सिद्ध छ्य ।
तुर्यरूप त्रिशवञ वेशि तस बुद्ध छ्य ॥

जिसे अनुग्रह के प्रभाव से ऐसी स्थिति सिद्ध हो गई हो, उस की बुद्धि जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों ही के विषय में तुर्या अवस्था में ही ठहरा करती है ।

२४१) सुय बुद्ध गयि साक्षात चूर्यम विध ।
चुयमि रूप त्रिशवय तस छि मिद्ध ।।

वही बुद्धि साक्षात तुर्या विद्या होती है। उस साधक को तीनों ही जाग्रत् आदि अवस्थाए तुर्यात्मक ही बन जाती हैं ।

२४२) क्या करि निर्णय किछ गयि चूर्यम ।
वनि त्रिशवय चूर्यमि सत्य पूरिम ।।

वह इस बात का निर्णय क्या करेगा कि वह तुर्या दशा किस प्रकार की दशा होती है । बस इतना ही कहेगा कि तुर्या वह चेतना है जिस से तीनों ही जाग्रत् आदि दशाएं भरी रहती हैं अर्थात् तीनों का भरण पोषण वही करती है और उसी के आधार पर इन की सत्ता ठहरी है ।

२४३) सँय ज्ञानी छुय रटि रोस्तुय ।
सीवुन संकल्प रोस्त ध्यान, सोस्तुय ।।

सम्पूर्णज्ञानी किसी वस्तु का ग्रहण आलम्बन के रूप में

नहीं करता है । वह निरालम्बन ही होता हैं । वह किसी की अर्चा, संकल्प या ध्यान नहीं करता है ।

२४४) ध्यानात्मा नित, सत् स्वभावी ।
शब्दातीत, छोप सोऽहंगावी ॥

वह नित्यध्यानात्मा होता है । नित्य सत्य स्वभाव वाला होता है । वह शब्दों से परे ठहर कर सोऽहं रूपी मौन मन्त्र को गाया करता है ।

२४५) स्वस्वभावय अज़पात्मा ज़पनिष्ठ ।
अत्यानन्दधन छुय सर्व रोम हृष्ट ॥

वह स्वस्वभावरूप अर्थात् शुद्ध संविद्रूप हुआ अजपा जाप में लगा रहता है । वह अत्यन्त आनण्दघन बना रहता है और सदा पूरी तरह से रोमहर्ष की अवस्था में रहता है ।

कुनि खोचिन कांसि ना खोचनाविय ।
२४६) सर्वरूप किज़ पांजपान अनुभाविय ॥

वह किसी से डरेगा भी नहीं और किसी को डराएगा भी नहीं । वह अपने आप का अनुभव विश्वरूपता से करता रहता है । अर्थात् यह अनुभव करता रहता है कि मैं ही सब कुछ हूँ । ऐसा करके ही न किसी से डरता है और न उससे कोई डराता है ।

२४७) मुक्त सुन्द महिमा वनि क्या उक्तय् ।
ईश्वर वय छु जीवन्तो मुक्तय् ॥

उस मुक्त प्राणी की महिमा किस तरह से वर्णन की जा सके । वह शरीर में जीवित रहता हुआ भी मुक्त ही बना रहता है और ईश्वर तुल्य बना रहता है ।

(8)

२४८) वखनय वनहा तिथि स्वभावय ।
विष्णापर्ण कँछा वखनावय ॥

मैं भगवान् के सन्तोष के लिए कुछ ऐसा व्याख्यान करूंगा जिससे उस शुद्ध स्वभाव का वर्णन हो जाएगा ।

२४९) आदौ गछि जाग्रत शुज़रावुन ।
स्वानुभव बोध स्वात्मुक ध्यान थावुन ॥

पहले तो जाग्रत् व्यवहार को शुद्ध करना चाहिए । स्वानुभव के प्रकाश से अपने आप का विचार करना चाहिए और उस पर ध्यान रखना चाहिए ।

२५०) माया मोह निशि गछि नावुन मन ।
स्वात्मा मर्शन सीवुन अछिन्न ॥

मन से माया मोह को धो डालना चाहिए । अपनी आत्मा के विमर्श का सेवन लगातार करते रहना चाहिए ।

२५१) नित्योदित तत् सत् अभ्यासी ।
जाग्रत नगरियि हुंद बनि वासी ॥

उस सत्य तत्त्व का सतत अभ्मास करने वाला जाग्रत् की दशारूपी नगरी का निवासी बन जाएगा । तात्पर्यय यह हो सकता है—उस अभ्यास पर डटा रहने वाला जाग्रत में रहता हुआ भी तुरीया में ठहर सकता है ।

२५२) स्व स्व भाव बनि यस अभ्यास अछिन ।
यत्न रोस्त करि अभ्यास रात्र दिन ॥

जिस का आत्म-अनुसन्धान का अभ्यास स्वाभाविक और सतोदित बन जाएगा, वह दिन रात उस अभ्यास स्वाभाविक और सततोदिन बन जाएगा, वह दिन रात उस अभ्यास को विना यत्न के करने लगेगा

२५३) वुदयस ईयि चित ज्योत सन्ध्यानय ।
भुवनात्मा वुछि पान, पाज पानय ॥

वह आत्मा के अनुसन्धान के द्वारा चित् की ज्योति का उदय

करा देगा और अपने आप ही किसी भी साधन की सहायता के बिना ही अपने आप को विश्वात्मकता के रूप में देख लेगा।

२५४) **विश्वरुप वुछि पन,नुय पान आसित ।**
तत् मंज़ आसि पान रोजवुन भासित ॥

वह अपने ही आप को विश्वरूपता में देख लेगा और समस्त विश्व के भीतर अपने आप ही चमकता हुआ ठहरा रहेगा। तात्पर्य यह है कि वह समस्त विश्व को अपने आप के भीतर और अपने आप को समस्त विश्व के भीतर देख लेगा।

२५५) **भुवनात्मा वनि अनि पान पननुय ।**
अथ अवस्थायि ज़ाग्रतछिय वननय ॥

वह अपने ही स्वरूप को विश्वात्मता के रूप में पहचान लेगा। इसी अवस्था को उस योगी की जाग्रत् अवस्था कहते हैं। तात्पर्य यह है यह दशा जाग्रत अवस्था के भीतर ठहरने वाली तुर्या अवस्था होती है।

२५६) **तसन्दि आनन्दुक वनि कुस क्या ।**
बृह्मा जन विश्वरूपच प्रतिमा ॥

उसके आनन्द का वर्णन कौन करे और क्या करे। वह ब्रह्मा जी जैसा विश्वरूप शरीर वाला होता है।

२५७) प्रकाशानन्दकि अनुसारय ।
आनन्दी ज़ीवन व्वहारय ॥

प्रकाशात्मक आनन्द के अनुसार उसका सारे का सारा जीवन व्यवहार आनन्दमय ही होता है।

२५८) चुय-शीतन मज़ वुछि जीवन पान ।
किरणन मज़ भान ज़न असि शोभान ॥

वह चौरासी लाख योनियों के जीवों में अपनी ही चेतना स्वरूप आत्मा को देख लेगा। जिस तरह प्रत्येक किरण के भीतर सूर्य ही प्रकाशित होता रहता है उसी तरह उसे प्रत्येक प्राणी के रूप में अपनी ही आत्मा चमकती हुई प्रतीत होगी।

२५९) तिथ चराचरमध्ये ज़ीवन ।
वुछि योगी पानपान संजीवन ॥

उस तरह से वह योगी चर और अचर (वृक्ष आदि) जीवों के भीतर जीवन की प्रतिष्ठा करने वाली अपनी ही चेतना का दर्शन करेगा।

२६०) तसन्दिस परमानन्दस वन्दी ।
वैकुण्ठीश्वर ज़न आनन्दी ॥

उसके उस अपरिमित आनन्द को नमस्कार हो। वह मानो साक्षात् आनन्द स्वरूप बैकुण्ठनाथ ही होता है।

२६१) प्रकाशानन्द रूप हनि हनि तीलिथ ।
विष्णाय विष्णास सस्य ज़न मीलिथ ॥

प्रकाशानन्द स्वरूप वह योगी कण कण में आते प्रोत भाव से ठहरा हुआ है। मानो भगवान् ही भगवान् के साथ एकरूप हो गया है। तात्पर्य यह है कि उसे अपना आप भी परमेश्वर स्वरूप ही भासता है और सारा जगत भी उसी स्वरूप से भासता है। अतः वह विश्वरूप परमेश्वर को और आत्मरूप परमेश्वर को एक रूपता में देखता है।

२६२) यि अवस्था तुर्या स्वप्नच थ्यत ।
स्थूल सूक्ष्मानुसारी छय संवित् ॥

यह तुर्या अवस्था है। स्वप्न की अवस्था इसी के आसरे पर ठहरी है। यह (स्वप्न) उस दशा की संवित् होती है जिस में वह स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों का अनुसरण एकसाथ करती रहती है।

२६३) स्थूल सूक्ष्मातीत यलि करि मौनम् ।
स्वप्रकाश आनन्दघन स्वात्मस्थम् ॥

जब संवित् स्थूल और सूक्ष्म दोनों का अतिक्रमण करती है। तो सब कुछ मौन जाता है। अर्थात् चित्त ही विलीन हो जाता है। उस अवस्था में स्वरूप में स्वप्रकाश आनन्दघन आतमदेव अपने शुद्ध स्वरूप में ही ठहरा रहता है।

२६४) स्वप्रकाशैश्वर्य मद छिञ्योमुत ।
स्थूल सूत्त्माचि गिन्तीय निशि पयोमुत ॥

वह स्वप्रकाशरूप परमेश्वरता के मद में मस्त रहा करता है और स्थूलता और सूक्ष्मता की गिनती से अतिक्रांन्त होकर रहता है।

२६५) वोडमुत अहं सागरस मध्ये ।
लय उदयुक भान अत्यानन्दी ॥

वह परिपूर्णं शुद्ध सविद्रूप अहं के समुद्र के बीच में निमग्न होकर रहता है। वह लय और उदय का भानु (सूर्य) आत्यानन्द स्वरूप है।

२६६) सदाशिव आनन्दी आनन्द ।
शून्यातिशून्य त्रिज़गत परमास्पंन्द ॥

वह आनन्द का आस्वाद लेते रहने वाला आनन्दस्वरूप

सदाशिव ही हो जाता है और शून्य से भी ऊत्तीर्ण तथा समस्त परिमित शून्यों का आधार रूप परमानन्दघन त्रिलोकीस्वरूप महा-शून्य (शिवशून्य) स्वरूप में ठहरता है ।

२६७) त्रृन भवनन गछि योद ह्योर बुन केंह ।
तसन्दिस आनन्दस छुन छुयन् केंह ॥

यदि तीनों भुवनों को भी कुछ उथल पुथल होजाए, फिर भी उसके आनन्द में किसी प्रकार का भी कोई विच्छेद नहीं आता है ।

२६८) कुस तस इछि न्यन्दरि वुज़नावे ।
सर्व स्वातन्त्र्य महिमा बोज़नावे ॥

उस योगी को ऐसी ज्ञान योग मयी निद्रा से कौन जगा सके । उसे इस परिपूर्ण स्वातन्त्र्य की महिमा कौन सुना सके ।

२६९) स्व स्व भावय उदयस यियि स्व स्व भाव ।
सर्वस्वात्तन्त्र्य शक्तिमत यत् छिव नाव ॥

अपना वास्तविक शुद्ध संविद्रूप स्वभाव अपने स्वभाव से ही स्वयमेव उसे उदय को प्राप्त हो जाएगा । उस स्वभाव को

सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य शक्तिमत्ता और शिवता कहा जाता है ।

२७०) परमात्मा परमानुग्रह मूर्त्ति ।
सर्वशक्तिमत सत् चैतन्य स्फूर्ति ॥

वह परमात्मा है, परम–अनुग्रह की मूर्ति है। वह समस्त-शक्तियों का एकमात्र आधार है। वह सत् है चैतन्य है और स्पन्दस्वरूप है। अथवा वह सच्ची चेतना का शुद्ध स्पन्द है।

२७१) अनुग्रह करि पानय पानस प्यठ ।
स्व विमर्शय त्रावि आनद्च स्यिठ ॥

वह स्वयमेव अपने आप ही अपने पर अनुग्रह करेगा। वह अपने स्वस्वरूप विमर्श के ही द्वारा आनन्द के प्रति अरुचि को छोड़ देगा।

२७२) किमानन्दी मध्ये मून ज़न भोव ।
जड़वत् चैतन्युक च्यून ज़न भोव ॥

वह औक्यिक आन्न्द है एक मून की तरह रहता है। जड की तरह है लेकिन चैतन्य है।

२७३) पाञ पानय ब्याक कुस छुम दाता ।
चैतन्यस कुस छु पिता माता ।।

मैं सब कुछ अपने आप ही हूँ । कोई दूसरा मेरे लिए आनन्द दाता नहीं । चैतन्य के माता पिता कौन हैं । अर्थात् कोई नहीं है । चैतन्य स्वयमेव अपनी ही महिमा सिद्ध है ।

२७४) पाञ पान पानय उलसोवुम ।
पाञ पानय ज़गतच स्थित थावुम ।।

मैं ने अपने आप ही के द्वारा अपने स्वरूप को उल्लास में लाया है । मैं ने स्वयं अपने आप ही इस जगत को ठहराया है ।

२७५) विमर्शोवुम आदौ आनन्द ।
विमर्शय थोवुम प्रतिभास्पन्द ।।

मैं ने पहले अपने ही आनन्द का विमर्श किया । उस विमर्श को ही मैं ने स्वाभाविक प्रतिमा के स्पन्द के रूप में ठहराया ।

२७६) एकोऽहं स्वातन्त्र्य अनुभोवम ।

बहुरूपी त्रिज़गत उलसोवुम ॥

"मैं ही अकेला हूँ" इस प्रकार के अपने स्वातन्त्र्य का अनुभव मैं ने स्वयमेव अपने आप को करा दिया । तब मैं ने अनन्त आकारों से युक्त इन तीनों लोकों को विकास में लाया ।

२७७) ब्ययि कांह छुन म्योन उत्पत्तिकर्ता ।
सृष्टाऽहं भर्ता संहर्ता ॥

मुझसे भिन्न और कोई भी मेरा उत्पादक नहीं है । मैं स्वयमेव सृष्टिकर्ता भी हूँ, भरण पोषण करने वाला स्थिति कर्ता भी हूँ और संहार कर्ता भी स्वयमेव हूँ ।

२७८) पाज़ पान यलि सर्वात्मा ज़ोनोन ।
सर्व रूप शिव पननुयपान मोनोन ॥

मैं ने जब अपने आप को स्वयमेव सर्वात्मभाव से जान लिया, तब अपने आप को ही सर्वरूप शिव के रूप में मान लिया ।

२७९) सर्वरुप संवस मंज़ ह्ययि नननुय ।
सर्वात्मा उलासित पान पननुय ॥

सर्वरूप परमात्मा प्रत्येक वस्तु में प्रकट होने लग जाता है। अपना आप ही सर्वात्मा है वही इस प्रपंच के रूप में उल्लसित हुआ है।

२८०) स्वस्थो स्वस्थात्मा संकल्प शून्य ।
आनन्दी प्रकाश विमर्श किञ ॥

आनन्दात्मक प्रकाश और विमर्श के द्वारा मैं संकल्प शून्य होकर अपने ही स्वरूप में स्वस्थ बन कर ठहरा हूँ।

२८१) त्रिन चुन मंज़ एकात्मा शिवरूप ।
गोपियशखचन मंज़ माधव रूप ॥

तीन चार आदि में एकात्मा शिवस्वरूप सदा ठहरा रहता है। जिस तरह से भगवान् माधव अपनी शक्तिस्वरूपा असंख्य गोपियों के सहवास में एक साथ रहा करता है।

२८२) सर्वातीत सर्वमय सर्वात्मा ।
सर्वशक्तिमत् ज़यवुन शिवस्वात्मा ॥

अपनी आत्मा शिव ही है। वह सब से अतीत है। वह विश्वमय भी है और विश्वात्मा भी है। वही सर्वशक्तिमान् जयशील स्वात्म शिव है।

२८३) साक्षात्कार सुय छुय चित भैरव ।
स्वस्वरूपस निश युस वातिथ प्यव ॥

अपने वास्तविक स्वरूप के सन्मुख जो आजाए उसका ऐसा होना ही उसका चिदात्मक भैरवनाथ शिव का साक्षात्कार होना होता है । तात्पर्य यह है कि अपने स्वरूप का अपने सन्मुखभाव में ठहरना ही शिवदर्शन होता है ।

२८४) चूर्यम थान तसन्दुय छुय आसन ।
चूर्यमिस आकाशस प्थठ भानज़न ॥

तुरीया नामक चतुर्थ पद उसी शिव का होता है । मानो कि वह तुरीया के आकाश में चमकता हुआ सूर्य होता है ।

२८५) चूर्यम प्रकाश आकाशुक रव ।
पंच्युम चित् शक्तिमत् पंचमुख शिव ॥

तुरीया का प्रकाश चिदाकाश का सूर्य है । पांचवां अथात् तुरीया तीत पद तो चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूपी पांच शक्तियों वाला पंचमुख संवित् स्वरूप परमशिव ही होता है ।

२८६) तसन्दयन पादन छुय नमस्कार ।
जय जय कार तस छुय वारवार ॥

उसी के पैरों को नमस्कार हो। उसी को बार बार जय जय कार हो।

(9)

२८७) चित छुपि कव ज़ानक शिव महिमा ।
कुस वनि शिव महिमा युथ त्युथ क्या ॥

हे चित्त तू चुपचाप शिव महिमा को किस तरह से जान सकेगा। शिव-महिमा कौन कह सकता है। कौन कह सकता है कि शिव ऐसा है या वैसा है या कैसा है।

२८८) शिव महिमा निशि छुक अनज़ान ।
पनुनुय पान जान शिव पाज पानय ॥

शिव की महिमा के विषय में तू अनजान है। तू अपने आप को ही स्वयमेव शिव जान ले।

२८९) अग्नुक महिमा ज़्युन क्या करि निर्णय ।
मरनुक महिमा वनि क्या मरनय ॥

लकड़ी आग की महिमा का निर्णय क्या कर सके । मरने से पहले ही कोई मरने की महिमा का वर्णन क्या करे ।

२९०) जीवन्तो युस मृदमुत आसि ।
शिवमात्रय युस रुदमुत आसि ॥

जो जीवित होता हुआ ही मरा हुआ हो जो केवल शिव मात्र ही शेष रह चुका हो ।

२९१) तस त्रिज़गत सोख्य छुय शिवमय ।
तम्य त्रिज़गत पूरमुत छुय परमय ॥

उसके लिए सारी त्रिलोकी ही शिवमयी है । उसने त्रि-लोकी को ही परमशिव से ही भर कर रखा है ।

२९२) चित । शिवस्मरण मुकलख मरनय ।
मरनय निशि मुकलुन छुय शरणय ॥

हे चित्त, तू शिव स्मरण के अभ्यास से मरने से अर्थात संसृति से छुटकारा पाएगा । बार बार मरने से मुक्त होने का उपाय शरनागति है ।

(10)

२९३) स्वामिन अनुग्रह किञ वखनाव्यतोम ।
चूर्यम शिवरुप शक्त अनुभाव्यतोम ॥

हे स्वामी आप मुझ पर अनग्रह करके उसी के द्वारा मुझे तत्त्व का स्पष्टीकरण कीजिए । शिव रूपिनी तुर्या नामक शक्ति का अनुभव मुझे कराइए ।

२९४) तात । चूर्यमपाद गयि शिवभूमि ।
वाति तोत वञ दूसरा है को मे ॥

उत्तर) हे प्यारे, चौथा पाद तो शिवभूमिका होती है । उस भूमिका पर वही पहुँचता है जो स्वानुभव के आधार इस बात का विमर्श करे कि मेरे लिए दूसरा कोई है ही नहीं अर्थात् एक मैं ही हूँ, मुझ से भिन्न और कोई है ही नहीं ।

२९५) एकोहं बाह्यान्तरयामी ।
सर्वरुप सर्वस्थो सर्व गामी ॥

एक-मात्र मैं ही बाह्य और अन्तर में व्याप्त होकर विचरण करता हूँ । मैं सर्वस्वरूप हूँ । सब में मेरी सत्ता विद्यमान है । मैं सभी में व्यापक भाव से प्राप्त होकर रहता हूँ।

२९६) प्रकाशिय प्रकाश आनन्दमय ।

अविनाशी अविनाश पाञपानय ।

मैं आनन्द मय प्रकाश ही प्रकाश हू, और कुछ नहीं हूँ। मैं ही स्वयमेव हूँ, दूसरा कोई भी नहीं है । मैं सर्वथा अविनाशी हूँ।

२६७) चूर्यम गयि रिखीकेश प्रत्यक्ष ।
प्रकाशरुप सूर्यसोईशन प्रत्यक्ष ॥

चौथी अर्थात् तुरीया अवस्था ऊपरोक्ष साक्षात्कार से जानी जाती है । वह स्पयं प्रकाश रूप होती हुई सूर्य की तरह अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान है ।

२६८) चूरिम वञ शास्त्रन अद्वैत शिव ।
प्रकाशय प्रकाश राह रोस्त रव ॥

शास्त्रों ने उस तुर्या अवस्था को अद्वैत शिव रूप दशा कहा है । वह प्रकाश ही प्रकाश है । वह रात से रहित सूर्य है ।

२६६) छुय पानय पाञ भवनात्मा ।
आनन्दगंग धारित सूवनात्मा ॥

वह स्वयं अपने आप से ही समस्त सत्ता का प्रयोजक

है । अर्थात् जो कुछ है उस की सत्ता को स्थापित करने वाला वह स्वयमेव है । वह आनन्द की गङ्गा है और उसी ने प्रवाहों का रूप धारण किया ।

३००) गछनय छुय प्रत् हनि हनि वातिथ ।
अचनय छुय नित हनि हनि व्यापिथ ॥

वह कहीं आने जाने के बिना ही घट घट में ठहरा है। किसी के भीतर प्रवेश किए बिना ही वह ज़रे ज़रे में व्याप्त होकर विद्यमान है ।

३०१) अनुभव छुय तसुन्दुय रूप प्रछखय ।
अनुभव मात्रय मुच योद मुच्छखय ॥

यदि तू पूछेगा तो उत्तर यह है कि उसका स्वरूप एकमात्र अनुभव ही है। यदि तू मुक्त हो जाना चाहता है तो एकमात्र अनुभवरूप ही शेष रह जा । स्वानुभव से अतिरिक्त सब कुछ को विलीन कर दे ।

०२) कांह जीवान चूयुम यस न आत्मा ।
जड चेतन व्युपरिथ छुय खात्मा ॥

कोई भी जीव ऐसा नहीं जिसकी अपनी आत्मा ही तुरीय शिव

नहीं है । समस्त जड और चेतन प्रपञ्च उसी में समाया हुआ है । इसे अपने में समाकर भी वह आकाशवत् इससे शून्य ही है ।

३०३) सर्वरुप छुय सर्वकर्ता चूर्यम ।
स्वस्थय स्वस्थात्मा छुय चूयु'म ॥

तुरीय शिव सर्वस्वरूप और सर्वकर्ता है । वह तुरीय शिव अपने ही आधार पर ठहरा हुआ है वह अपने ही स्वरूप में ठहरा हुआ स्वरूपस्थ आत्मदेव है ।

३०४) देवन मंज देवक्रय धारिथ छुय ।
जीवन मज़ जीवुत धारिथ सुय ॥

देवी देवताओं में देवतोचित क्रिय शक्ति का रूप धारण करके और सामान्य जीवों में जीवभाव का रूप धारण करके वही ठहरा हुआ है ।

३०५) शिव स्वप्रकाश मूर्ति आन्दघन ।
विष्णुरूप सुय सर्व रचा कारण ॥

वही स्वप्रकाश रूप आनन्घन शिव है और वही समस्त विश्व की रक्षा करने वाला विष्णुस्वरूप भी है ।

३०६) ब्र्ह्मा रूप सर्वोत्पतिकर्त्ता ।
सुय सृष्टा, भर्ता संहर्ता ॥

वही ब्रह्माजी के रूप में ठहरता हुआ सब की उत्पत्ति करने वाला स्रष्टा है । वही धारण और पोषण करने वाला है और वही संहार करने वाला भी है ।

३०७) सर्व्वावस्थासु क्रीडाशील ।
हनि हनि वांतिथ तेलिसजनतील ॥

वही सभी अवस्थाओं में क्रीडाशील है । जिस तरह तिल के अंश अंश में तेल व्यापक होकर रहता है उसी तरह से वह कण कण में व्यापक है ।

३०८) सर्वेन्द्रियद्वार द्रायि चित प्रतिभा ।
स्वातन्त्र्य शक्तिमत् सुय शिव प्रतिभा ॥

सभी इन्द्रियों के द्वारों से जो प्रकाशात्मिका चित्तत्व की प्रतिभा बाहर निकलती है, वही प्रतिभा स्वातन्त्र्य शक्ति से सम्पन्न शिव है ।

३०९) सर्वरूप सर्वक्रीडा करि रटि रोस्त ।

सर्वांगन करि चेष्टा इत्य होस्त ।।

वह सर्वस्वरूप है । वह बन्धन शून्य होता हुआ ही समस्त क्रीडा करता रहता है । वह हाथी की तरह सभी अङ्गों की चेष्टा को कर सकता है ।

३१०) दोयमा तस पाथिन रटि वोलुय ।
देवरूप वाग्रत मुख विकरोलुय ।।

उसके सामने दूसरा कोई ठहर नहीं सकता । वह बन्धन हीन है । वह विकराल मुख वाला होता हुआ भी देवरूप है ।

३११) मूल शिव तत्वादि क्षितिर्पयन्त ।
ज़ीव ज़ीवनरूप अनादि अनन्त ।।

मूल शिव तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक के समस्त जीवों का जीवन स्वरूप वही अनादि और अनन्त शिव ही है ।

३१२) तलपदि प्यठ शेरकिस अन्तस ताज ।
ज़ीवय छुय हनि हनि वातिथ ताज ।।

पैरों के तलवों से लेकर सिर के ऊपरी किनारे तक जीव ही शरीर के रोम रोम में व्यापक ठहरा है ।

३१३) तिथु देवय छुय हनि हनि व्रातिथ ।
शिवरूप आनंदो सर्वव्यापिथ ॥

उसी तरह से परमेश्वर ही कण कण में ठहरा हुआ है। वह आनन्दघन शिवरूप है और सर्वव्यापक है।

३१४) निच कथ छन चूर्युम पाद प्रावुन ।
वनुना छुन चूर्युम अनुभावुन ॥

चतुर्थ पाद को अर्थात् तुर्या दशा को प्राप्त करना कोई छोटी बात नहीं है। चौथी अर्थात् तुर्या दशा का अनुभव करना कोई कहने की बात नहीं।

३१५) योग किञ यस चित निश्चल स्थित गव ।
ज्ञान किञ यस चित निस्सन्देह प्यव ॥

योग के अभ्यास से जिस का चित्त निश्चल ठहरने लग जाए और ज्ञान के अभ्यास से जिस का चित्त संदेहहीन हो जाए

३१६) भैरवानुग्रह यस अनुग्रहकारी ।
अर्ज़नस श्रीकृष्ण डूथ रथधारी ॥

भैरवात्मक शिव का अनुग्रह शक्तिपात जिसपर हुआ हो,

जिस तरह से महावीर अर्जुन का साथी भगवान कृष्ण बना ।

३१७) तिथु यस करि साचात शिव शक्तिपात ।
चुर्य म पाद अनुभवरि सुय शिवरात ॥

उसी तरह से जिसपर स्वयं साक्षात् शिव ही अनुग्रह शक्तिपात करें, वही साधक शिवरात्रि के शुभावसर पर तुर्या दशा का अनुभव कर सकता है । शिवरात्रि से यहा आमीद की अनुभूति की अवस्था अभिप्रेत है ।

३१८) चूर्यमय यलि त्रिशवज मंज़ ज़ानक ।
सत् योगुक परमार्थ तलि मानक ॥

जब तू जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति रूप तीनों दशाओं में ओतप्रोतभाव से ठहरी हुई तुर्या को जान लेगा, तभी तू सच्चे योग के पारमार्थिक स्वरूप का अनुभव करेगा ।

३१९) त्रिशवज वेशि भासित छु शिव रव जन ।
त्रिशवय शोज़राव चूर्यम सीवन ॥

तीनों अवस्थाओं के भीतर तुरीय शिव सूर्य की तरह प्रकाशमान है । तू तीनों का शोधन कर और तुरीया का ही सेवन कर ले ।

३२०) शिवप्रतिमा उध्वाॅधः भेद विन ।
शिवभूमी वाह्यन्तर अछिन ।

शिव के स्वरूप में ऊर्ध्व और अधः आदि का कोई भेद नहीं होता है । शिवभूमिका बाह्य और आभ्यन्तर सर्वत्र विच्छेद के बिना व्याप्त होकर ठहरती है ।

३२१) शिवपूजुन चिन्मय गव रोज़ुन ।
शिवमात्रय ब न कँह गव पूज़ुन ॥

चिन्मय अवस्था में ठहरना ही शिवपूजन होता है। यह समझना कि "केवल शिव ही है, मैं कोई नहीं हूं" शिवपूजन होता है ।

३२२) ब न कँह देहाभिमान पत्य चानिथ ।
शुद्र चैतन्य शिव स्वात्मा मांनिथ ॥

देह आदि के प्रति आत्मासा के अभिमान का निवारण करके शुद्ध चैतन्यात्मक शिव को ही अपना आप मानकर ही ऐसा कहा जा सकता है कि में कोई भी नहीं हूँ ।

३२३) ब स्वभावय प्रलयुन पननुय पान ।
कँहनस मंज़ कँह मो धार अभिमान ॥

अहम्भाव रूपी अर्थात् अभिमानरूपी अपने आप को तू विलीन कर दे। "कुछ भी नहीं है" ऐसी स्थिति में ठहर कर तू किसी भी प्रकार का अभिमान मत धारन कर।

३२४) केंहनस मज़केंह न अनुभव जयेंठय ।
चोक छु म्योठ तयुत् सोरुय म्यूठुय ॥

"कुछ भी नहीं है"। इस स्थिति में किसी भी विषय का अनुभव नहीं होता है। खट्टा, कडवा, मीठा आदि वहां सब कुछ मीठा ही मीठा होता है।

३२५) चियड् ह्यथ किथ कज़ ज़न बेह निश्चल ।
चित प्रतिभा गाह आविंथ निर्मल् ॥

सन्तोष का आसरा लेकर तू सर्वथा निश्चल होकर बैठ। तब तुम्हारी चित्प्रतिभा अपने निमल प्रकाश को बाहर छिटकेगी।

३२६) पूरिय बाह्यान्तर आनन्दी ।
पूरिथ युथ गन्धादिक गन्धी ॥

बाहर और भीतर सर्वंगुन्य आनन्द से भर देगी; उस तरह से जिस तरह से कस्तूरी आदि गन्धद्रव्य सुगन्ध से भरे रहते हैं।

३२७) शिवमात्रय चिन्मय आनन्दघन ।
शिवभक्तन अविछिन्न शिवदर्षन ॥

शिवभक्तों को वैसी अवस्था में आनन्दघन और चिन्मात्र शिव के दर्शन सतंत गति से होते रहते हैं ।

३२८) कुयुथ दर्शन दृष्यदर्शन निश मुक्त ।
तव दर्शन महिमा क्या वनि उक्त ॥

वह दर्शन कैसा विचित्र होता है । उसमें केवल द्रष्टा ही द्रष्टा विद्यमान रहता है । वह दृश्य और दर्शन से रहित होता है । उस दर्शन की महिमा वाणी कहां तक कह सके ।

३२९) त्रिपुटी हंज़ तति कोंह पाथिन शय ।
यति स्थावर जंगम छुय शिवमय ॥

उस दर्शन में प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय की त्रिपुटी के लिए कोई स्थान होता ही नहीं; क्योंकि उस में सारा स्थावर और जंगम संसार एकमात्र शिवमय ही होता है ।

३३०) युथ अनुग्रह यसकरि भैरवनाथ ।
तस गव बाह्यान्तर सन्देह शान्त ॥

ऐसा अनुग्रह शक्तिपात जिस पर भैरवनाथ शिव करे, उसके सभी बाह्य और आन्तर विषयों के सन्देह शान्त हो जाते हैं ।

३३१) अनुग्रह किज़ योग महिमा प्रावि ।
योगीज़न सर्वसन्देह त्रावि ॥

उस अनुग्रह के ही प्रभाव से योगीजन योक की महिमा को पाते है और समस्त सन्देहों का परित्याग करते हैं ।

३३२) उथ बेठ तस सा'रय छुय शिवमय ।
निर्बन्धन छुय करि यलि इछ क्रय ॥

उसका सारे का सारा व्यवहार शिवमय ही होता है । जब वह ऐसी क्रिया करेगा तो वह बन्धन शून्य हो जाएगा ।

३३३) सुय साक्षात्कार बृह्मय ज़ानुन ।
ज़ीवन्तो शिव अवतार मानून ॥

उसी अवस्था को तू ब्रह्म के साक्षात्कार की अवस्था जान ले । उस योगी को तू शरीर में जीवत रहता हुआ शिव का अवतार मान ले ।

३३४) यस साक्षात्कार बोव सतवीर्यय ।

त्रिज़गत छुय तसुन्दुय ऐश्वर्यय ॥

जिस साधक को इस आत्मबल रूपी सच्चे वीर्य के द्वारा आत्मसाक्षात्कार बने, तीनों जगत उसी के ऐश्वर्य रूप हो जाते हैं ।

३३५) कुस सन्तन हुन्द महिमा गावि ।
कुस प्रखुठुय शिवर्दशन हावि ॥

सन्तों की महिमा को कौन गाए और प्रत्यक्ष शिवदर्शन कौन दिखाए ।

३३६) सुय सन्तन हुन्द महिमा गावि ।
यस प्रखुठुय शिव र्दशन हावि ॥

सन्तों की महिमा को वही गा सकता है जिससे शिव साक्षात् शिव दर्शन करा देवे, अर्थात् जिसे अनुग्रह शक्तिपात के द्वारा शिव आत्मसाक्षात्कार करा देवे ।

३३७) चित ! प्रखुठुय छुय योद ईख शरणन ।
शरणय गछ अमरतीशुर चरणन ॥

हे चित्त, यदि तू शरण में जाएगा तो वह शिव प्रकट

ही है, छिपा हुआ नहीं है । इस लिए तू शिव के ही सत्य चरणों की शरण में आ जा ।

३३८) प्रछ योद वय पख छुय वुजि वेलय ।
पानसय निश छुय तीर्थुक मेलय ॥

अभी अवसर है । यदि चाहता है तो पूछले और चल पड़ । तीर्थ का मेला तुम्हारे अपने पास ही है । अर्थात् परमेश्वर तुमहारा अपना आप ही है । उसी को जान ले ।

३३९) संसार छुय दोह पांशि मोज़ान न्यत् ।
देह यात्रा गछ्नज अथ अन सत् ॥

संसार तो चार दिन का है । इसे नित्य ठहरने वाला मत समझ । तेरी शरीर यात्रा भी चलने वाली ही है। अर्थात् शरीर चिरकाल तक ठहरने वाला नही है । अतः तू सत्य वस्तु को ढूंढ़ करके प्राप्त कर ।

३४०) पानसय निश छुय चैतन्य शिवयोग ।
योगसीवन ज्यन मरनुक चलि रोग ॥

चैतन्य शिवयोग तुम्हारे पास है । योग के अभ्यास से जन्म लेने और मरने का रोग चला जाएगा ।

३४१) शिव सीवुन बु न कँह सुय पानय ।
छुय पूरित निश स्थानी स्थानय ॥

शिव सेवन इस बात को समझना होता है कि मैं तो हूं ही नहीं, केवल वही अपने आप ही है । वह आस, पास, जगह, जगह, व्याप्त होकर विद्यमान है ।

३४२) यम्य स्थानन हंज़ शोभा लाजिन ।
गोपालन तथ पालना पाजिन ॥

जिस ने समस्त स्थानों की शोभा का रूप धारण किया है और जिस गोपाल ने उस तरह से पशुओं का मालन किया। अथवा जिस गोपाल ने उस तरह से वस्तुतत्त्व का पालन किया या उसे निभाया—

३४३) पालुन ज़ान तहन्दिय सन्निधानय ।
देहहरिथ छु चेतन ज़न पानय ॥

उसी के सतत सन्निधान होने से ही तू यथार्थ स्थिति का ठीक तरह से निभाना जान ले । देह से उत्तीर्ण जो चेतना है, वह तो स्वयं वही है ।

३४४) ज़ानन वालि ज़ानुन इ ज़ानन वोल ।

मानन् ग्रालि मानुन इ मानन वोल ॥

हे जानने वाले जीव, तू इस वास्तविक जानने वाले शिव को जान ले। अथवा हे जानने वाले तू जानने वाले इस अपने आप को यथार्थ रूप में जान ले। हे मानने वाले तू इस वास्तविक मानने वाले को ही मानने वाला मान ले। तात्पर्य यह है कि देह आदि से उत्तीर्ण शुद्ध सवित् को ही अपना आप समझ ले।

३४५) छुय बोलान महिमा पाज पान्य ।
छुय पननुय पान पान अथि अननुय ॥

वह स्वमेव अपनी महिमा को अपने आप ही कहता है। तुझे भी अपने आप ही अपने ही आप को प्राप्त करना या पहचानना है।

३४६) रथि खारक पान अनखय अथि पान ।
पान ज़ानुनय ज़ानुन शिव निर्वाण ॥

यदि तू अपने आप को पहचान लेगा तो अपने आप को सफल बना देगा। अपने आप को पहचानना ही शिव को पहचानना है और वही निर्वाण अर्थात् मुक्ति है।

३४७) ज्ञानुन गव चिन्मय तन्मय भाव ।
स्थावरस इथ स्थित निश्चल स्वभाव ॥

चिन्मय परमेश्वर के साथ तन्मयता अर्थात् एकरूपता करना ही उसे जानना होता है । जिस तरह से वृक्ष आदि स्थावर प्राणियों की अथाल स्थिति ही उन का स्थावरता रूपी स्वभाव होता है ।

३४८) चित् बोज़खय सीव स्थावरता न्यथ् ।
चिन्मात्रुक अनुसन्धान मत्य ह्यथ ॥

हे चित्त यदि तू मेरी सुनेगा तो नित्य स्थावर अर्थात् एक ही स्वभाव में ठहरने वाले संवित् स्वरूप की निश्चल अवस्था का अभ्यास कर । साथ ही अपने वास्तविक चिन्मात्र स्वरूप का अनुसन्धान भी रखता रह ।

३४९) मुचखय चैतन्य मुच, ब्ययि कैंह न ।
रुच त्राव, रठ सत्रुच ब्ययि कैंह न ॥

यदि तू कुछ शेष रहेगा, तो चिन्मात्र ही शेष रह जा, और कुछ नहीं । अपनी रुचि का परित्याग करले । अपने सत्य स्वरूप को ही पकड कर रखा ले । उससे भिन्न अन्य किसी भी तत्त्व के प्रति रुचि मत रख ।

३५०) चित् योदवय इछ स्थित अथि आये ।
शिव पानस निश गंगा द्राये ॥

हे मेरे चित्त, यदि तुम्हें ऐसी स्थिति हाथ में आए, तो समझ ले कि शिव तुम्हारे पास है और तुम्हे अपने घर में से ही गङ्गा का प्रवाह निकल पड़ा। गङ्गा से यहां परा शक्ति अभिप्रेत है।

३५१) क्या जंयवञ विमर्शन गंगा ।
क्या ज़यवुन शिवनिर्वाण थुोंङ्गा ॥

वह शुद्ध, उसी में और परिपूर्ण विमर्शात्मक पराशक्ति रूपिणी गङ्गा कैसी जयशील अर्थात् सर्वोत्किर्षमयी है। वह शिव भी एक परिपूर्ण और पारमार्थिक मोक्षपर्वत का शिखर जैसा कैसा ही परम उत्कर्षशील है। इस विषय में क्या ही कहना।

३५२) क्या ज़यवुन त प्रयवुन विमर्शन ।
शिवदर्शन बृह्मषिन देवरिषन ॥

उस स्थिति का विमर्श ही कैसा उत्कर्ष शील और हृदय को अच्छा लगने वाला होता है। ऐसा शिवदर्शन ब्रह्मर्षियों और देवर्षियों को प्रायः होता है। अतः इस प्रकार के शिव दर्शन से साधक ब्रह्मर्षितुल्य और देवर्षितुल्य बन जाता है।

३५३) भाग्यवानन भगवान निशि वनि आव ।
भाग्यहीनन निशि आसित पत्यच़ाव ॥

भाग्यवान साधकों को अपने पास ही भगवान की पहचान आ गई । भाग्यहीन लोगों के लिए पास होता हुआ भी वह छिप गया । यहां भाग्यवान से अनुग्रहपात्र और भाग्यहीन से निग्रहपात्र अभिप्रेत है । यहां भाग्य को कर्मफल रूप दैव नहीं समझना चाहिए ।

३५४) भाग्यवान छिय सन्मुख चित सूर्यस ।
भाग्यवान छिय मीलित सत् वीर्यस ॥

भाग्यवान जीव चित्-सूर्य के सन्मुख आ जाता हैं अर्थात् उन्हें चित-सूर्य का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है । भाग्यवान ही सत्वीर्य के साथ अर्थात् शिव की परमेश्वरता के साथ मिले हुए हैं । उन्हे उसकी साक्षात् अनुभूति होती रहती है ।

३५५) यस युथ छुय अनुभव तस त्युथ ज़य ।
शिवभक्तन छुय ज़य विमर्शय ॥

जिस को जैसी अनुभूति हो, उसका वैसा ही उत्कर्ष होता है । शिव भक्तों का परम उत्कर्ष उनकी अपनी-शिवता का विमर्श ही होता है ।

३५६) चित ! बोज़खय ब वनय शिव निर्वाण ।
शिव ज़ानुन निश छुय ज़ानी ज़ान ॥

हे मेरे चित्त, यदि तू सुनेगा तो मैं शिवनिर्वाण आपको बता दूंगा । आप स्वयं शिव को अच्छी तरह से जान लीजिए। वह सदा आप के समीप ही है और आप की जान पहचान में ही है ।

३५७) छुय प्रकाश तहुन्दुय त्रिन भवनन ।
त्रिभवन ब्ययि त्रिपुटी त इन्द्रियगण ॥

तीनों भुवनों में उसी का प्रकाश चमकता है। त्रिभुवनों के अतिरिक्त प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय की त्रिपुटी में भी तथा इन्द्रिय समूह में भी उसी का प्रकाश चमक रहा है ।

३५८) गोपालस छि सेवान सांय देवगण ।
गोपाल तुलि किसि प्यठ गोवर्धन ॥

उस गोपाल की अर्थात् पशुपति की सेवा सारे के सारे देवगण करते रहते हैं । वह गोपाल अपनी कनिष्ठिका नामक अंगुली पर गोवर्धन पर्वत को उठा सकता है ।

३५९) गोवर्धन भार गासकचि तुलनाव ।
स्त्रनेंस तल डुथ हिमालुत द्राव ॥

गोवर्धन पर्वत का भार उस तरह से उठाता है कि मानो वह घास का एक तिनका जैसा हो ।

३६०) देहेन्द्रियगण त्रिथय पाठि स्वात्मस ।
डुथ आकाश बसि प्यठ आकाशस ॥

देह और इन्द्रियगण आत्मा पर उसी तरह से आरोपित हैं जिस तरह से कल्पित घटाकाश आदि महा-आकाश पर आरोपित होते हैं ।

३६१) युस अनुभव बाह्यान्तर जीवन ।
युस अनुभव बल जीवन त दीवन ॥

जो अनुभव बाह्य क्षेत्र में तथा अन्तः क्षेत्र में जीवों को होता है, और जिस अनुभव का बल सभी जीवों और देवगणों को है—

३६२) सुय अनुभव स्वविचार शोज़रावुन ।
चितचय चचंलता बिहनावुन ॥

उसी अनुभव को तू अपने विचार से शुद्ध करले और चित्त की चञ्चलता को शान्त करले। तात्पर्य यह है कि अपने अनुभव से ही तू प्रत्येक विषय को सचमुच शिवात्मक ही समझने का अभ्यास कर।

३६३) नावुन मन विमर्श गंगाये ।
दर्मिशन शशिकल प्रकट द्राये ॥

विर्शरूपी गङ्गा में मन को शुद्ध करले। विमर्श करने से ही शशिकला प्रकट हो जाती है। विमर्श से यहां स्वात्म-शिवता का विमर्श अभिप्रेत है। उसी को शुद्ध विमर्श कहते हैं।

३६४) विहख्रय चित ! स्थितिमान अमृत चख ।
अमृत च्यत मर मर निष मुकलख ॥

हे चित्त, यदि तू बैठ जाएगा अर्थात् निवातदीप की तरह निश्चल हो जाएगा, तो तू अमृत का पान करेगा। अमृत को पी कर तू बार बार मरने के संकट से छुटकारा पायेगा।

३६५) अमृतीश्चर भैरव मुचि एकान्त ।
तद्विष्नो परपद शान्त वेदान्त ॥

फिर एकमात्र अमृतेश्वर भैरव नाथ ही शेष रहेगा। यह

वेदान्त में कहा हुआ "तद् विष्णो परमं पदम्" व्यापक परमशिव का परम पद है ।

(12)

३६६) स्वामिन् वेदान्तच मर्यादा अनुभवहा ।
युस सन्तन मुक्तिदा सुय ज़ानहा ॥

प्रश्न) हे स्वामी, मैं वेदान्त की उस मर्यादा का अनुभव करना चाहता हूँ जो सन्तों के लिए मुक्तिप्रद होता है । उसी को मैं जान लेना चाहता हूँ ।

३६७) ब वनय सत्गुर शब्द सत मानुन ।
वेदान्त केवल वेदक ज़ानुन ॥

मैं कहूँगा—तू सद्गुरु के उपदेश को सत्य मान ले, और तू एकमात्र संवित् स्वरूप शुद्ध प्रमाता को ही वेदान्त स्वरूप जान ले ।

३६८) वैराग्याभयास पूर्वक शुद्ध मन ।
स्व स्व रूपानुसन्धानी सत् ज़न ॥

वैराग्य और अभ्यास के द्वारा शुद्ध बना हुआ मन ही अपने आत्मस्वरूप का अनुसन्धान कर सकता है और उसी से

साधक सत्-जन अर्थात सिद्ध-जन बन सकता है ।

३६९) नित्योदित अभ्यास अन उदयस ।
प्राणन मुचि चित् त प्राण गछि प्रलयस ॥

तू नित्य प्रति सतत उदित अभ्यास का उदय कर दे । उससे प्राणों में से केवल चेतना ही शेष रहेगी और वह प्राणों को अपने में विलीन कर लेगी ।

३७०) कैंह नव रटि कैंछा न ज़ि त्रावि ।
चितव्रत शोमरित सोऽहं गवि ॥

वह चेतना न ही किसी विषय का ग्रहण ही करेगी और न किसी का परित्याग करेगी । चित्त की समस्त वृत्तियों को शान्त करके सोऽहं का गीत गाएगी ।

३७१) शब्दातीत तत शब्दार्थ ज़ानित ।
सोऽहं ततसत परमार्थ मानित ॥

शब्दों के अर्थको जान कर भी वह चेतना शब्दातीत ही बनी रहेगी। वह सोऽहं तत्-सत्'' अर्थात् 'जो वह सत्य परमशिव है वही मैं हूँ, ऐसा परमार्थ जान लेगी ।

३७२) सन्देहस ज़ांह नज़ि गछि कोऽहम् ।
नाथानां नाथ चैतन्योऽहंम् ॥

"कोऽहं" अर्थात् 'मैं कौन हूँ', इस प्रकार के सन्देह की और वह चेतना कभी नहीं जाएगी । उसे निश्चय हो जाएगा कि मैं वही नाथों का नाथ अर्थात् ईश्वरों का ईश्वर हूँ ।

३७३) ज्ञाता सर्वात्मवेदक वेदान्त ।
सिद्धान्त परमात्मा शिव पर शान्त ॥

वह चेतना यह जान कर कि वह सब का आत्मस्वरूप साक्षी बना हुआ वेदान्तसारभूत परमात्मा है जो प्रशान्त और शिवरूप है, सिद्धान्त को निश्चित करेगी ।

३७४) सर्वातीत सर्वसूक्ष्मात् परतर ।
परमानन्दघन चैतन्य अतिथ्यर ॥

वह चित् सबसे उत्तीर्ण, समस्त सूक्ष्म पदार्थों से भी सूक्ष्मतर, अतीव स्थिर रहने वाला परम आनन्दघन चैतन्य ही होती है ।

३७५) सर्वसामान्य सर्वम् सर्वात्मा ।

सर्वशंका शान्त वेदान्त स्वात्मा ॥

वह चित् सर्वसामान्य है सब के लिए एक जैसी है वह सब कुछ है और सभी की आत्मा है। वह समस्त शङ्काओं से शून्य स्वात्मरूप शान्त वेदान्त तत्त्व है।

३७६) परमाकाशं मूर्ति संकल्प शून्य ।
आनन्दी प्रकाशि विमर्श किञ ॥

वह सङ्कल्प-विकल्प-रहित परम-आकाश-स्वरूप है और प्रकाश और विमर्श की महिमा से आनन्दमय है।

३७७) केवल अनुभवमात्रात्मा शिव ।
स्वप्रकाशघन हृदयाकाशुक रव ॥

वह केवल अनुभव मात्रस्वरूप शिव है जो स्वप्रकाशघन है, अर्थात् सर्वतः, सर्वथा और सर्वदा स्वय प्रकाशरूप ही है, तथा हृदय रूपी आकाश में रहने वाला नादात्मक शब्द है।

३७८) संन्यासी शिवभक्त शिवगोत्री ।
ब्रह्मज्ञो ब्राह्मण अग्निहोत्री ॥

सब कुछ का सन्यास करने वाला, अपने को शिवात्मक कहने वाला शिवभक्त ही ब्रह्म जानने वाला अग्नि होत्री ब्राह्मण होता है।

३७९) चित-अग्नस आनदुक दियि अन ।
अग्निहोत्रस आहुत दियि ब्रह्मण ॥

वह चित् रूपी अग्नि को आनन्द की आहुति देगा। वही ब्राह्मण इस आग्निहोत्र में समुचित आहुति देगा।

३८०) स्वप्रकाशि अग्नस अनुभावि ।
सर्वेन्द्रिय वृत आहुवत थावि ॥

वह स्वप्राकशात्मक अग्नि की अनुभूति को प्राप्त करेगा और इस अग्निहोत्र में समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों को ही आहुति के रूप में अर्पण करेगा।

३८१) हं विमर्श बलवान सपदित क्यथ ।
चित अग्नस च़न च़ण दियि आहुत ॥

वह शुद्ध अहंविमर्श के द्वारा बलवान् बन कर चिदग्नि में क्षण क्षण में आहुति देता रहेगा।

३८२) भीदा भीद भ्रम पत्य चानि सोरुय ।
निर्विकल्पस छुय आनन्द लोरुय ॥

वह भेद और अभेद के सारे भ्रम को शान्त करेगा। निर्विकल्प चेतना के ही साथ तो आनन्द चिपटा रहता है।

३८३) आनन्दी अति विमर्शारूढ ।
निःसन्देह वर्जित गूढागूढ ॥

वह आनन्दी उस स्वात्म-विमर्श पर खूब आरूढ हो जाएगा। वह गूढ और अगूढ संशयों का परित्याग करके सन्देह शून्य हो जाएगा।

३८४) प्रकाशय प्रकाश अनुभावि ।
वेद्य वेदन विकल्पन त्रावि ॥

वह निर्विकल्प दशा पर ठहरा हुआ साधक प्रकाश के द्वारा प्रकाश का ही अनुभव करता रहेगा और वेद्यों के ज्ञान तथा विकल्पों को शान्त कर देगा।

३८५) क्षण क्षण सत् समाज़ हुन्द सीवक ।
आनन्दी परम अमृत पीवक ॥

वह क्षण क्षण में सच्ची समाधि का सेवन करने वाला साधक आनन्दमय बना रहता है और परम अमृत का पान करता रहता।

३८६) व्योममय व्योमस्थो व्योम व्योमात्मा ।
स्वप्रकाशघन शिव सूर्य सोमात्मा ॥

वह आकाश के भीतर आकाशमय बनकर सर्वात्मक आकाश रूप में ही ठहरता है। वह अपने चित् प्रकाश का घनीभूत स्वरूप जैसा बना हुआ सूर्य-चन्द्रात्मा अर्थात् प्राण और अपान को एक रूपता मे ले आकर ठहरने वाला शिव बना रहता है।

३८७) स्वात्मा शिव युस साक्षात भावि ।
ज्यन मरनच छाय तस पत्य चावि ॥

जो सब के आत्मस्वरूप शिव की साक्षात् भावना करे, उससे जीने और मरने की छाया निवृत होती है अर्थात् संसृति की छाया उस पर नहीं पड़ती ।

३८८) युस इछ वृत न्यत् थर करि हृदयस ।
तस यियि परमानन्द बोध उदयस ॥

जो साधक अपने चित्त में इस प्रकार की वृत्ति को स्थिर बनाएगा, उस को परम-आनन्द का बोध उदय को प्राप्त होगा ।

३८९) चैतन्य आनन्द-बोधुक भागी ।

अन्यथा भाव-भेद बोधुक त्यागी ।।

चैतन्य ही आनन्द के बोध का उपभोगी होता है । वह अन्यस्वरूप वाले भावभेदों के बोध का परित्याग करने वाला होता है ।

३९०) निष्क्रिय सर्वक्रियानन्तर मध्ये ।
निष्कल चैतन्य आनन्द बधे ।।

वह समस्त क्रियाओं के बीच में भी, अर्थात् समस्त क्रियाओं को करता हुआ भी, निषिक्रय ही बना रहता है । चैतन्य के आनन्द से बन्धा हुआ वह निष्कल अर्थात् सर्वथा अद्वैतात्मक एकरूप ही बना रहता है ।

३९१) निर्वैरो निस्नेह सर्वत्र ।
स्वानन्दी निष्कल अन्यतर ।।

वह सर्वत्र वैरहीन और स्नेहहीन अर्थात् रागद्वेष से रहित बना रहता है । वह निष्कल रहता है और भीतर से ही अपने स्वरूपभूत आनन्द के चमत्कार को प्राप्त करता रहता है ।

३९२) सर्वतो शिवदर्शन तृप्तात्मा ।
सर्वान्तर्भूत जन सुषुप्तयात्मा ।।

वह समस्त विषयों में सर्वतः शिव दर्शन से ही तृप्त होता रहता है। वह मानो अपने में ही समाया रहता है और सुषुप्त जैसा बना रहता है

३६३) चैतन्य आत्मा सुषुप्तिमूर्ति ।
बाह्यान्तर चैतन्यस्फूर्ति ॥

वह सुषुप्त भाव में ठहरा हुआ चैतन्यमात्र ही होता है। उसे बाह्य और अन्तर सर्वत्र एक मात्र चैतन्य की ही स्फूर्ति होती रहती है।

३६४) विश्वात्मा विश्वोतीर्ण ओतुय ।
ननि नोन वलिथन् विश्वसङ्घोतुय ॥

वह विश्वरूप भी है और विश्वत्तीर्ण भी है। वह सर्वव्यापक है। प्रकट से भी प्रकट और गूढ़ से भी गूढ़ है तथा समस्त विश्व का एक घन सघात स्वरूप है।

३६५) बिनि विधि प्रथामाभास फुलनावि ।
वेद्य वेदान्तर एकान्तावि ॥

वह बिना विधि के ही एक बार ही सदा के लिए प्रकाशमान होते रहने वाले उस शुद्ध प्रकाश को चमका देता है जो

समस्त आभासों के प्रारम्भ में नियम पूर्वक चमका करता है। वह किसी एक वेद्य विषय को और उससे भिन्न अन्य सभी वेद्य विषयों को एक कर देता है।

३९६) एकोऽनेकैव सर्वात्मा।
एकानेक भ्रम शून्य परमात्मा ॥

वह एक रूप और अनेकरूप बनता हुआ ही सर्वात्मस्वरूप है और ऐसा होता हुआ भी एकता और अनेकता के भ्रम से शून्य परमेश्वर ही है।

३९७) परमानन्द बोधघन वालुक ज़न।
भेदाभेदन हुन्द पालक जन ॥

वह मानो एक अबोध बालक जैसा है जो परम आनन्द मय बोध का एकघन-स्वरूप है। वह मानो समस्त भेदों और अभेदों का पालक है।

३९८) कुनि पण्डिता ज़न वेद भाषावि।
अज्ञान गटि भान ज़न गाशावि ॥

कहीं तो वह पण्डित जैसा बन कर वेदादि शास्त्रों को पढाता है। कहीं अज्ञान की काली घटा में सूर्य की तरह

प्रकाश डालता है ।

३९९) कुनि मूर्खा ह्यू वर्णित् अबली ।
कुनि योगीन्द्रा सिंहवत् स्वबली ।।

कहीं मूर्ख जैसा और निर्बल जैसा वर्णन में आता है और कहीं शेर की तरह खूब बलवान योगीन्द्र के रूप में प्रकट होता है ।

४००) हिंहिस ह्यू व्यवहार वर्ताव्रि ।
सार्यनय सूतिन मैत्री थावे ।।

जो जैसा हो उस से वैसा ही व्यवहार करता सब के साथ मित्रता को निभाता है ।

४०१) कुनि चेतन कुनि ज़न आसि थामी ।
कुनि ज़न दास कुनि ज़न आसि स्वामी ।।

कहीं फिरने वाला चेतन जीव होता है और कही स्थावर होता है । कही दास जैसा और कहीं स्वामी जैसा प्रकट होता है ।

४०२) कुनि पानय पानस निश्च चढि सोरुय ।

योगीन्द्रन पाथिन कॆंह लोरुय ॥

कहीं तो स्वयमेव हर पदार्थ को अपने से काट डालता है अर्थात् अपने आप को समस्त प्रपञ्च से उत्तीर्णभाव में ठहरा कर देखता है। उस अवस्था में वह योगीन्द्रों के रूप में प्रकट हो जाता है। उन्हे किसी भी प्रकार से किसी भी भाव का लेप नहीं लगता है। वे कमल पत्र की तरह सर्वथा निर्लेप ही रहते हैं।

४०३) योगीश्वर महिमा कुस मानि ।
भाग्यवानन विन योग कुस ज़ानि ।

कौन योगीश्वर उस की महिमा को मांप सके। भाग्यवान् अनुग्रह पात्र के विना योग को कौन जान सके।

४०४) भाग्यवान छिय सत्‌योगस सन्मुख ।
भाग्यवानव मोनमुत छु योगय सुख ॥

अनुग्रह पात्र ही उत्तम और सच्चे योग के प्रति उन्मुख हो जाते हैं, उन भाग्यवान् अनुग्रह पात्रों ने योग को ही सुख माना है।

४०५) सतगुर छुय योग यामर्थ्य दाता ।

सतगुर छुय योगाम्रृत दाता ॥

सद्‌गुरु ही योग के सामर्थ्य का देने वाला होता है। सद्‌गुरु ही योग रूपी अमृत का देने वाला होता है।

(13)

४०६) स्वामिन् सत्‌योग वार वखनाव्यतोम ।
सत्त्यसत् संक्षेप योगवृत भाव्यतोम ।

प्रश्न) हे स्वामी, मुझे उत्तम योग का व्याख्यान अच्छी तरह से कीजिए। जो योग वृत्ति सर्वथा सत्य है उसी को संक्षेप से मुझे बता दीजिए।

४०७) योग ज़ान जीवात्मै-क्यानुसन्धान ।
जीवात्मै क्यानुसन्धान गव ज्ञान ॥

जीव और परमेश्वर की परस्पर एकता के अनुसन्धान को तू योग समझ ले। जीव और परमेश्वर की उस परस्पर एकता का अनुसन्धान ही सच्चा ज्ञान है।

४०८) ज़ीवात्मानुसन्धानी ज्ञानी ।
स्व-ज्ञानानन्दमय विज्ञानी ॥

जीव और परमेश्वर की एकता का अनुसन्धान करने वाला ही ज्ञानी होता है। वह आनन्दात्मक आत्मज्ञान से और विज्ञान से युक्त होता है।

४०९) पूरित वुछि शिवस्वात्मा ब्राह्यान्त ।
निष्कल आनन्दी विक्षेप शान्त ॥

वह ज्ञानी समस्त बाह्यप्रपञ्च और आन्तर प्रपञ्च को स्वात्मस्वरूप शिव से ही परिपूर्ण भरा हुआ देख लेता है। वह आनन्दघन और परिपूर्ण शिव ही होता है और उसके समस्त विक्षेप शान्त हो जाते हैं।

४१०) वेदान्त आत्मा सिद्धान्ती शिव ।
स्वप्रकाशानन्दधन राच़ रोस रव ॥

उसका स्वरूप वही होता है जिसे वेदान्त में आत्मा और शैवसिद्धान्त में शिव कहा गया है। वह स्वप्रकाशरूप और आनन्दघन स्वरूप मानो ऐसा सूर्य होता है जिसके लिए रात्रि कहीं होती ही नहीं। अर्थात् उसके लिए सदा दिन ही रहता है।

४११) वनि यस आव तस चज़ गट सारय ।
वनि यस न आव तस छय गट लारय ॥

जिस को अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान आ गई, उससे सारा अन्धकार दूर हट गया। जिससे उस स्वरूप की पहचान नहीं आ गई, उसे अज्ञान रूपी अन्धकार घेर कर ही रखता है।

(14)

४१२) **स्वामिन योगस त ज्ञानस क्या छेद ।**
शास्त्रीय छा किन वाणी हुन्द भेद ॥

प्रश्न) हे स्वामी योग और ज्ञान में परस्पर भेद क्या है। क्या शास्त्रानुसार इनके स्वरूप में कोई भेद है भी या केवल दो शब्दों अर्थात् नामों के प्रयोग से ही भेद का आभास मात्र होता है।

४१३) **श्रद्धालु बुद्धिमान अनुभावै ।**
ज्ञानुक त योगुक अन्तर हावै ॥

उत्तर) हे श्रद्धालु और बुद्धिमान् शिठय, मैं तुम्हें अनुभव करा दूंगा और ज्ञान और योग में जो परस्पर अन्तर अर्थात् भेद है, उसे तुम्हें दिखा दूंगा।

४१४) **ज्ञानय गव योग योगय गव ज्ञान ।**

ज्ञान योगियन ज्ञानयोगय गव ध्यान ।।

ज्ञान ही योग होता है और योग ही ज्ञान होता है। ज्ञानयोगियों के लिए ज्ञान योग ही ध्यान का अर्थात् योग का अभ्यास बनता है।

४१५) योगय गव ज्ञान, ज्ञानय गव योग ।
ज्ञान योगियन छुन ज़्यन मरनुक रोग ।।

योग ही ज्ञान होता है और ज्ञान ही योग होता है। ज्ञान योगियों को जीने मरने का रोग लगता ही नहीं।

४१६) दुशवय पद एकार्थय गात्रन ।
भाग्यवान ज़न दुशवय एक्रात्रन ।।

"ज्ञान" और ,'योग" ये दोनों ही शब्द एक ही अर्थ को गाते हैं, अर्थात् अभिव्यक्त करते हैं। भाग्यवान् साधक दोनों को एक कर देते हैं।

४१७) योग ज़ान जीव परमस मिलनावुन ।
न्यतुं नित्योदित अभ्यास थावुन ।।

तू यह समझ ले कि जीव को परमेश्वर के साथ एक कर देना योग होता है। उसी एकता की भावना के सततोदित अभ्यास को लगातार करते रहना योग होता है।

४१८) संकल्पव निश शोंज़रावुन मन ।
अभ्यास क्रिञ मन त प्राण बनि अर्पण ।।

तू अपने मन को सङ्कल्पों से शुद्ध कर ले अर्थात् मन को संकल्प-विकल्प-हीन बना ले । अभ्यास के द्वारा मन और प्राण दोनों आत्म ज्योति में अर्पण हो जाएंगे अर्थात् मन और प्राण भी आत्मप्रकाश के भीतर विलीन हो जाएगा ।

४१९) चित प्राण शान्त यान्य तान्य वृति च्रोभान्त ।
स्वप्रकाशानन्दघन उदि हृत भ्रान्त ।।

ज्यों ही चित और प्राण शान्त हो जाएंगे, त्यों ही अज्ञान की आवृति क्षुब्ध होकर समाप्त हो जाएगी । फिर भ्रान्ति शून्य स्वयं प्रकाश मान और आनन्दघन आत्मप्रकाश का उदय हो जाएगा ।

४२०) वाह्यान्तर पूरि आनन्द सोरुय ।
चैतन्य आनन्दघन तेज़ लोरुय ।।

बाह्य प्रपञ्च और आन्तर प्रपञ्च सारे का सारा आनन्द से परिपूर्ण हो जाएगा । सब कुछ चैतन्य के आनन्दघन तेज में समा जाएगा ।

४२१) प्रकाशय प्रकाश आनन्दघन ।
स्व स्व भावय जीव बनि बृह्मापर्ण ॥

उस अवस्था में केवल आनन्दघन प्रकाश ही प्रकाश विद्यमान रहेगा । शिव अपने स्वभाव से ही बिना ही यत्न के स्वयमेव पर ब्रह्म में विलीन हो जाएगा ।

४२२) पत्य अचि ज़ीवतच कल्पन सारय ।
बृह्मयोगस छय बृह्मगत लारय ॥

जीवभाव की सारी सारी की कल्पना हट जाएगी । इस ब्रह्मयोग के साथ ब्रह्मगति चिपटी हुई है । अर्थात् ब्रह्मयोग का अभ्यासी ब्रह्मभाव का अनुभव करने लग जाता है ।

४२३) गूर संकेत युस हृदि सत् मानि ।
योगबल युस चितवृत पत्य चानि ॥

जो शिष्य गुरु के इशारे को हृदय से सर्वथा सत्य मान लेवे और जो योग के अभ्यास के बल से चित्त की समस्त वृत्तियों को शान्त कर देवे—

४२४) योगाभ्यास तस छुय फलदाता ।
तस रछि योग इथ पुत्रस माता ॥

उसी को योग का अभ्यास फलदायक बन जाता है। योग उसी तरह से उसकी रक्षा करता है जिस तरह पुत्र की रक्षा पिता माता करते हैं।

४२५) क्षण क्षण ज़ानि ज़ीवन योग सीवन ।
ज़ीव ब्रह्मक्ययोग मानि संज़ीवन ॥

वह साधक क्षण में यह जान लेगा कि योग का अभ्यास ही वास्तविक जीवन है और जीव तथा ब्रह्म की एकता के योग को ही वह सञ्जीवन मान लेवेगा।

४२६) सत् श्रद्धावान योद सत् बुद्ध छय ।
ज़ीवब्रह्मैक्य ज़ान योगुक निर्णय ॥

हे सच्ची श्रद्धावाले शिष्य, यदि तुम्हारे पास सद्बुद्धि है तो तू यह जान ले कि जीव और ब्रह्म की परस्पर एकता ही योग के स्वरूप का निर्णय है।

४२७) चित प्रकाश बल अन्तः करणन ।
चित - प्रकाशन वुज़नोव प्राण मन ॥

चित् अर्थात् चैतन्य का प्रकाश ही अन्तः करणो का

बल है, अर्थात् उसी के आश्रय से वे अपने अपने व्यवहार करते रहते हैं। चित्-प्रकाश ने ही प्राणों को और मन को जगाया है, अर्थात् प्राण और मन भी अपना अपना व्यापार चित्प्रकाश के ही सामर्थ्य से कर सकते हैं।

४२८) चेतनोवुन जड प्रकृति आकाश ।
युस जड चेतनावि सुय सत् सुय प्रकाश ॥

चित्प्रकाश ने ही आकाश तुल्य शून्यात्मक जड पुरुष तत्त्व को चेतन बनाया है। जो जड को भी चेतन बना सके, उसी को चित्प्रकाश कहा जा सकता है।

४२९) चैतनन यलि दारय जगतच प्रय ।
चैतन्यस निशि द्राय सर्व इन्द्रिय ॥

जब चेतन परमेश्वर ने जगत् के साथ प्यार किया अर्थात् जब उसका अनुसन्धान जड़ जगत की ओर लग गया, तभी उस चैतन्यात्मक परमशिव से समस्त इन्द्रिय आदि तत्त्वों की सृष्टि हो गई।

४३०) चैतन देह नगरी हुन्द राजा ।
सर्वज्ञो मुनिवर भरद्वाजा ॥

देहरूपी नगरी का चैतन्य रूपी आत्मा है। वह सर्वज्ञ

है, भरद्वाज मुनिवर है। अर्थात् वह शुद्ध प्रकाशरूप होता हुआ ऋषितुल्य है।

४३१) देह नगरी हुन्द सर्वाज्ञाकार सुय ।
जड़ चेतनाई हुन्द सर्वाधार सुय ॥

देहरूपी नगरी में अपने आदेश को चलाने वाला वह आत्मा ही है। समस्त जडत्ता और समस्त चेतनता, इन दोनों का आधार वही है।

४३२) चमि कन कव ज़ातिहै शब्द बोजुन ।
प्रकाश नय ह्ययि बोजुनि रोजुन ॥

जड चमड़ी का बना हुआ कान शब्द कैसे सुन सकता यदि प्रकाशरूप आत्मा उसे स्वयं सुनने न लग जाता। अर्थात् कान यदि सुनता है तो चित्प्रकाश के ही बल से सुनता है।

४३३) नेत्र किथ रुपादिक पर्ज नाविहे ।
च्यत - प्रकाश नय तथ गाश थाविहे ॥

नेत्र रूपी इन्द्रिय रूप आदि विषयों को कैसे पहचान सकता, यदि चित्-प्रकाश वहा उजाला नहीं कर देता। अर्थात्

आंख भी चित्प्रकाश के बल से रूप आदि विषयों का ग्रहण कर सकती है ।

४३४) गन्धन कति करिहे नस अनुभव ।
प्रकाश नय करिहे तति चित रव ॥

नाक सुगन्ध और दुर्गन्ध का अनुभव कहां करती यदि प्रकाशरूप आत्मा ही वहां चेतना का नाद नहीं करता ।

४३५) कव ज़ानिहै रसना रसमेछर ।
प्रकाश नय चेनिहे रसआश्चर ॥

जीव रसों के आस्वाद को कहां जान सकती यदि, चित्-प्रकाश ही रसों के चमत्कार का अनुभव नहीं करता ।

४३६) फर्यशर त कोमलता कव ज़ानि हय चम ।
चित प्रकाश चेन्न्य नय रोज़ि हय स्म ॥

त्वचा कोमलता को या खुरदरे पन को कैसे जान लेती, यदि चित्प्रकाश ही उनका अनुभव नहीं करता और समभाव से सभी इन्द्रियों का आधार बना नहीं रहता ।

४३७) यति तति छुय चैतन्युक महिमा ।

यति तति प्रखटाविथ छुय कति क्या ॥

जहां तहां चैतन्य ही की महिमा विद्यमान है, जहाँ वहाँ जो कुछ है उसे चैतन्य ही प्रकट करता रहता है ।

४३८) ठहरोवमुत छुय तम्य ज़ड चेतन ।
चिन्मात्रैक मूर्ति वनि अन्तन ॥

यह जड है और यह चेतन है, इस व्यवस्था को उसी ने ठहराया है । अन्त में सब कुछ एकरूप चिन्मात्र हो जाएगा ।

४३९) चित ! तस वालाग्रुक व्यन्नर नाव ।
चेतन चेनुन चोनय स्वभाव ॥

हे चित्त, बाल के अग्रभाग की भिन्नता उसका नाम है। अर्थात् वह इतना सूक्ष्म है जितना सूक्ष्म बाल के अग्रभाग को छिन्न भिन्न करने पर कल्पना से सिद्ध होने वाले उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग हों । उस सूक्ष्म चैतन्य को स्वयं अनुभव करना तुम्हारा ही स्वभाव है ।

४४०) चित ! रोज़ुन जानखय चेन नव रोस्त
चैतन्य देव वुछहन आनन्दसोस्त ॥

हे चित्त, यदि तू विषयों की अनुभूतियों शून्य ५ होकर ठहर सकेगा, तो तू आनन्दमय चैतन्य देव को लगातार देख ले। अर्थात् विषयोन्मुख संकल्पों और विकल्पों से शून्य होकर ठहरने से आत्मप्रकाश की अनुभूति स्वयमेव होने लग जाती है।

४४१) ब्ययि कांह छुन ज़ाजवोल अथनगरि ।
इथ ब्योन ब्योन ज़ाजवोल प्रथनगरि ॥

उस नगरी में और कोई भी जानने वाला नहीं है। जिस तरह से प्रत्येक शरीरादि नगरी में भिन्न २ वाला जीव होता है, उस तरह से इस चित्प्रकाश की नगरी में कोई भी और प्रमाता नहीं। अर्थात् उस अवस्था में एक मात्र शिव ही प्रमाता है और उसी को उसका अनुभव होता रहता है। जीव भीं वहां शिव ही बना रहता।

४४२) केवल जाननवोल चैतन्यदेव ।
भ्रम किञ तस छुय नाव प्योमुत जीव ॥

वहां एक मात्र चैनन्य देव ही अकेला जानने वाला प्रमाता होता है। भ्रम के ही कारण उसे "जीव" ऐसा नाम पड़ गया है। वस्तुतः वह जीव न होकर चैतन्य रूप शिव ही है।

४४३) नगरियि इन्द राज़्य छुय वर्तावान ।

यति युथ पजि तति त्युथ नाव थावान ॥

वह इस नगरी के राज्य के व्यापारों को चलाता रहता है। जहां जैसा होता है, वहा अपना नाम वैसा ही रखता है। अर्थात् सारा प्रपञ्च वही है। वही बिन्न २ नामों और रूपों को धारण करता हुआ प्रपञ्च के रूप में प्रकट होता रहता है।

४४४) स्वातन्त्रय शक्तिमत यति तति ईश्वर ।
नाव सोस्त छुय विश्वरुप विशम्भर ॥

जहां तहां स्वातन्त्र्य शक्ति से सम्पन्न स्वयं परमेश्वर ही भिन्न २ नामों को धारण करके विश्वात्मक बनाता है। वही विश्व को धारण करने वाला है।

४४५) यति पन नुय पहिमा प्रकटोवुन ।
तति कारण पानस नाव थोवुन ॥

जहां उसने अपनी ही महिमा को प्रकट किया, वहा उसने अपना नाम कारण रूप अर्थात् जगत् कारण रूप परमशिव रखा।

४४६) यति उदयस आयि महिमा लहरी ।
तति थोवुन पानस नाव ईश्वरी ॥

जिस अवस्था में उसकी परमेश्वरतात्मक स्वभाव की लहर ही उदय को प्राप्त हो गई, उस अवस्था में उसने अपने आप को ईश्वरी अर्थात् शक्ति ऐसा नाम दिया ।

४४७) शिवादि ज़ीवादि क्षितिपर्यनत ।
स्वातन्त्रय शक्तिमत् अनाद्यानन्त ॥

शिव तत्त्व से लेकर जीव आदि प्रथवी तत्त्व तक जो कुछ है उसके रूप में वह स्वातन्त्र्य शक्ति वाला अनादि और अनन्त परमशिव ही विद्यमान है ।

४४८) यति इथि मिहमा सोस्त रूप दोरुन ।
तति तमि तमि रुप् नाव अनुसोरुन ॥

जहाँ जहां जिस जिस प्रकार की महिमा वाले रूप को उसने धारण किया, वहां वहां उसी उसी रूप के अनुसार उसने अपना नाम भी रख दिया ।

४४९) सन्त रुप छुय कुनि शायि आनन्दी ।
ज्ञानी तसन्दि्यन चरणन वन्दी ॥

किसी जगह वह आनन्द का आस्वाद लेने वाले ज्ञानवान सन्त के रूप में ठहरा है। उसी के चरणों को नमस्कार हो।

४५०) कुनि शायि छुय गुर रूप विद्वानुमुख।
शिष्य रूप कुनि योगी कुनि आरुरूढ़ ॥

किसी जगह विद्वान् गुरु के आकार को धारण ही करके उसी रूप में ठहरा है और कहीं शिष्य के रूप में। कहीं तो योगारूढ सिद्ध योगी के रूप में ठहरा है और कहीं योग भूमिका पर आरोहण करने की इच्छा वाले साधक के रूप में ठहरा है।

४५१) कुनि पण्डिता विद्या परनावान।
विद्यर्थी कुनि कांसि ह्यछनावान।

कहीं पण्डित के रूप को धारण करके विद्या पढाता है। कहीं विद्यार्थी बना है और कहीं किसी को कुछ सिखाता रहता है।

४५२) कुनि तपवान व्रतधारी ऋषिरुप।
मंत्री न्यत प्रजलाविथ दीप धूप ॥

कहीं व्रत को धारण करने वाले तपस्वी ऋषि के रूप में ठहरा है और कहीं नित्य दीप और धूप को जला कर मन्त्रोपासना करता हुआ ठहरा है।

४५३) देव्र प्रतिमा कुनि शायि पूजावि ।
पूज़ात्रोल पानस नाव थावि ।।

किसी जगह जब देवताओं की प्रतिमाओं की पूजा करवाता है तो वहां अपना नाम पूजा को ग्रहण करने वाला देवता ही रखता है ।

४५४) कुनि वाहये कर्मुक सनन्यासी ।
अन्तर्मुख योगुक अभ्यासी ।।

कहीं तो बाह्य कर्मो का परित्याग करने वाले और अन्तर्मुख योग का अभ्यास करने वाले साधक के रूप में ठहरता है ।

४५५) चित प्राण इन्द्रिय करि अन्तर्मुख ।
स्व स्व रूप निष्ठावान भोगियि सुख ।।

वहां वह चित्त को, प्रानों को और इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर देता है और निष्ठावान् बनकर तथा अपने वास्तविक स्वरूप में ठहर कर आत्मसुख का उपभोग करता है ।

४५६) बाह्यान्तर कल्पन यति त्रावन ।।
योगीश्वर पानस नाव थोवुन ।।

जहां तो उसने बाह्य और आन्तर कल्पना का परित्याग किया, वहां उसने अपना नाम योगीश्वर रखा।

४५७) कुनि योगी बाह्यान्र रटि रोस्त।
योगोन्द्रोभैरव आनन्द् सोस्त ॥

कहीं पर वह बाह्य और आन्तर बन्धनों से रहित योगीश्वर के रूप में ठहरता हुआ आनन्द के अनुभव से युक्त भैरव-स्वरूप योगीन्द्र कहलाता है।

४५८) कुनि शायि सत्संगूच मर्यादा।
वादियन सूत्य नर्तावित् वादा ॥

कहीं वाद विवाह करने वालों के साथ शास्त्रार्थों का व्यापार चलाता हुआ सत्सङ्ग की मर्यादा के रूप में ठहरता है।

४५९) थावि पानस नाव तति सत्संगी।
मशरावित छुय भय, मृतभङ्गी ॥

वहां वह अपना नाम सत्सङ्गी रखता है। मृत्यु को समाप्त करके और भय को बुला डाल कर वहां उस रूप में ठहरता है।

४६०) कुनि शायि छुय व्यवहारस सन्मुख ।
व्यवहारुक दुःख छुय मान्ति सुख ॥

किसी जगह तो लोक व्यवहार के प्रति सदैव उन्मुख बनकर ठहरता हुआ लोक व्यवहार में होने वाले दुःख को भी सुख मानकर ही उस अवस्था में ठहरता है।

४६१) यति युथ सुख दुःख रूप व्यवहारि ।
तति पानस लोकटाड अनुसारि ॥

जहां जहां जितने जितने सुख दुःख आदि के भोग का व्यापार करता है, वहां वहां अपने आप को उतना उतना ही छोटा या बडा प्रकट करता है।

४६२) यति युथ युथ व्यवहार अनुसोरुन ।
तति त्युथ त्युथ ह्यू नाव रूप धोरुन ॥

जहां जहां जिस जिस प्रकार के व्यवहार का उसने अनुसरण किया, वहां वहां उसी उसी के अनुरूप नाम और रूप को उसने धारण किया।

४६३) यमि तमि रूप च्यत् देव क्रीडाशील ।

माया मुख धारित तेलुक तील ॥

जिस किसी भी रूप में वह क्रीडनशील चैतन्यस्वरूप परमेश्वर ही माया के मुख को उस तरह से धारण करके ठहरा है जिस तरह से तिलों का तेल द्रवरूप को धारण करके ठहरा है। तात्पर्य यह है कि तिलों के भीतर घनरूप को धारण करके ठहरने वाला तेल ही पिसे जाने पर द्रवरूप को धारण करने लग जाता है।

४६४) चित–प्रकाश द्रामुत प्रत द्वारय ।
तमि–तमि व्यवहारकि अनुसारय ॥

उस उस दर्शन, स्पर्शन, गमन, ग्रहन आदि व्यवहार के अनुसार चित्प्रकाश ही इन्द्रियों के प्रत्येक द्वार से बाहर निकला हुआ है।

४६५) केवल चित्प्रकाश चमकानी ।
पानय थान पाज पानय थानी ॥

एकमात्र चित्प्रकाश ही सर्वत्र चमक रहा है। वही स्थान अर्थात आधार है और वही अपने आप ही स्थानी अर्थात आधार में ठहरने वाला है।

४६६) सत्पुरुषव शास्त्रार्थ ईय जोनुय ।

योगीन्द्रव ईय अनुसन्धोनुय ॥

सज्जनों ने शास्त्रों का यही तात्पर्य निर्नय जान लिया। योगीश्वरों ने भी इसी परमार्थ सत्य का अनुसन्धान योग के अभ्यास से किया।

४६७) अनूसण्धोण्मुत छुय सत्पुरुषव ।
चित् ! बोज़खय तत प्यठ द्रर स्थित थव ॥

सत्पुरुषों ने इसी बात का अनुसन्धानात्मक निर्णय किया है। हे चित्त, यदि तू मान लेगा, तो इसी निश्चय पर स्थिरता से ठहर जा

(इति चतुर्दशोः समुल्लासः)

(15) अथ पंचदशः समुल्लासः

४६८) स्वामिन् प्रकाश भेदा भेद छा
प्रकाशस जड चेतन छेद क्या ॥

प्रश्न - हे स्वामी, प्रकाश तत्त्व भेद रूप है या अभेदात्मक है। प्रकाश के भीतर जड़ और चेतन का क्या कोई अन्तर है। अर्थात क्या जड़ का प्रकाश से भिन्न है।

४६६) बू वनय हृदयिकि कनू योद बाज़क ।
एकाग्र चितू बोज़नि रोज़क ॥

उत्तर - यदि तू हृदय के कानों से सुनेगा और यदि तू एकाग्र चित्त से सुनता रहेगा तो मैं कह दूंगा।

४७०) प्रकाश त्रिशवूज गाशन हुन्द गाश ।
यित तति जीवन चैतन्य प्रकाश ॥

प्रकाश तो तीनों ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का अभ्यास वाला है। जहां तहां भी समस्त जीवों का चैतन्य प्रकाश ही है।

४७१) बृह्मस त आकाशस छुन कुँह भेद ।
आकाश जड बृह्म छुय चैतन्य वेद ॥

ब्रह्म में और आकाश में परस्पर कोई भेद नहीं है। पर इतना जान ले कि आकाश जड है और ब्रह्म चैतन्य है।

४७२) ज़डभूत सर्वव्यापी यिथ आकाश ।
तिथ ज़डभूत छुय सोरुय प्रकाश ॥

जिस तरह से जडभूत आकाश सर्वत्र विद्यमान होता हुआ

सर्वव्यापक है, उसी तरह से प्रकाश ही समस्त जड़ विश्व है।

४७३) आकाश जड़भूत विमर्श रोस्तुय ।
चैतन्य प्रकाश विमर्श सोस्तुय ॥

परन्तु आकाश जड भूत है, क्योंकि वह विमर्श शक्ति से रहित है। इसके विपरीत प्रकाश चैतन्य है, क्योंकि वह विमर्श शक्ति से युक्त है।

४७४) चित प्रकाश सत् चैतन्यात्मा ।
आनन्दघन सर्वात्मा खात्मा ॥

चित्प्रकाश सत्य है, चैतन्यात्मक है, आनन्दघन है, सर्वात्मक है और आकाशतुल्य है। अर्थात् आकाशवत् व्यापक और विश्वोत्तीर्ण है।

४७५) जड चेतन भाव होव चैतन्यन ।
जड़ चेतन नाव थोव चैतन्यन ॥

यह वस्तु जड है और यह चेतन है, इस प्रकार का जडभाव और चेतनभाव स्वयं चैतन्य ने ही प्रकट किया। इन दो को जड़ और चेतन ये दो नाम भी चैतन्य ने ही दे दिए।

४७६) सर्वार्थन चेनरावनय चेनि ।
आकाशस मेनरावनय मेनि ॥

वह समस्त विषयों को जानते बिना ही उनका अनुभव करता है। वह आकाश को मापे बिना ही उसे माप लेता है।

४७७) ज़डरुपस यति तति शोभरावि ।
यति युथ पज़ि तति त्युथ नाव थावि ॥

वह जहां तहां जडरूपों को शोभायमान बना देता है। जहां जहां जैसा उचित हो, वहां वहां वैसा नाम ठहराता है।

४७८) चैतन्य महिमा आदि अन्त रोस्तुय ।
सर्वात्मा चैतन्य तीज़ सोस्तुय ॥

चैतन्य की महिमा आदि रहित और अन्त रहित है। चैतन्य प्रकाशमान है और सभी का स्वरूप है।

४७९) विमर्शन पूर्ुत छुय प्रकाश ।
प्रकाशन पूर विमर्शाकाश ॥

विमर्श ने प्रकाश को अपने से भर कर रखा है।

तात्पर्य यह है कि प्रकाश सर्वत्र विमर्श से परिपूर्ण होकर ही रहता है। इसी तरह से प्रकाश ने भी विमर्श के स्वरूप को अपने से भर कर रखा है। भाव यह है कि विमर्श सर्वत्र प्रकाश से पूर्ण ही रहता है।

४८०) चैतन्य प्रकाश विमर्शात्मा ।
सत् चित आनन्दो हर्षात्मा ॥

चैतन्य प्रकाश विमर्शात्मक होता है। वह सत् है, चित् है, आनन्द है और ऐसा [होता हुआ सदा प्रसन्न रहता है। तात्पर्य यह है कि अहंरूप आत्मप्रकाश ही विमर्शात्मक होता हुआ आनन्दस्वरूप होता है। जड प्रकाश ऐसा नहीं होता।

४८१) जड प्रकाश कुनि कैंह मा चेनि ।
जड प्रकाश मा छोट ज़्यूठ मेनि ॥

जड प्रकाश अर्थात् घट आदि विष्य प्रकाश अथवा प्रकाशात्मक घट आदि जड पदार्थ कहीं भीं कुछ भी अनुभव नहीं करता। वह जड प्रकाश छोटे और बडे को माप नहीं सकता।

४८२) ज़ड प्रकाश कुनि कथिमा तलि स्वाद ।
ज़ड प्रकाश कुनि कथिमा करि वाद ॥

जड प्रकाश कहीं भी किसी भी विषय का आस्वाद नहीं

ले सकता। वह जड प्रकाश कहीं भी किसी भी बात के विषय में विरोध भी नहीं कर सकता।

४८३) जड प्रकाश छियोट श्रूच मा करि शिुन।
जड प्रकाश कुनि कथि मा थावि वोन॥

जड प्रकाश शुद्ध और अशुद्ध (शुचि और अशुचि) में परस्पर विवेक नहीं कर सकता है। जड प्रकाश किसी बात की पहचान को धारण नहीं कर सकता।

४८४) ज़ड प्रकाश मा नोन स्योन ज़ानि।
ज़ड प्रकाश मा टेयोठ मयूठ मानि॥

जड प्रकाश यह नहीं जान सकता कि कौन सी वस्तु स्वाद रहित है और कौन सी स्वाद वाली है। जड प्रकाश किसी को कडवा और किसी को मीठा नहीं मान सकता।

४८५) ज़ड प्रकाश मा ज़ानि छ्युत क्रुनुय।
ज़ड मा ज़ानि कुनि शुहुल त उषोन्ये॥

जड प्रकाश यह नहीं जान सकता कि सफेद क्या होता है और काला क्या होता है। जड यह कहीं नहीं जान सकता कि गर्म क्या होता है और ठण्डा क्या होता है।

४८६) ज़ड छुय यमि तमि रूप मून ज़न ज़ड ।
माया रूप वा चैतन्य च्यून ज़ड ॥

जड पदार्थ जिस किसी भी रूप में—ऊन की तरह जड ही होता है। चैतन्य ही जब माया के रूप से विशिष्ट होता है, तो उसी को जड अनुभव किया जाता है। तात्पर्य यह है कि चेतन पशु के शरीर का अङ्ग बनी हुई भी उसकी ऊन जड ही होती है। उसी तरह से जड पदार्थ भी शिवात्मक होते हुए भी जड ही जाने जाते हैं।

४८७) सर्वज्ञनाथ शिव चैतन्यात्मा ।
सर्वाद्यान्त सर्वात्मा खात्मा ॥

सब कुछ जानने वाले स्वामी शिव चैतन्य स्वरूप हैं। वे सब के आदि और अन्त है, सर्वात्मक हैं, अर्थाथ सब कुछ वह ही हैं और फिर भी आकाशवत् प्रपञ्च शून्य हैं।

४८८) चैतन्य प्रकाश रूप रंग रोस्तुय ।
सर्व रूप उलसावित जयसोस्तुय ॥

चैतन्य का प्रकाश आकार-शून्य होता है। वह समस्त आकारों को उत्पन्न करके भी निराकार ही है। अतः वही सर्वोत्कृष्ट होता हुआ जयशील है।

४८९) स्वातन्त्र्य कान्ह विषयन वोलुसाविय् ।
सर्व विषयन ब्योन ब्योन नाव थाविय ॥

अपने स्वातन्त्र्य से ही विषयों को उत्पन्न करता है और समस्त विषयों का पृथक पृथक नाम दे देता है ।

४९०) युस उदयस यिलि तिलि तत भोक्ता ।
यिलि युस् कथ तिलि तमिकुय वुक्ता ॥

वह उस उस विषय का उपयोग करने वाला बनता है जो जो विषय जब कभी भी उदय को प्राप्त होता है । जब भी जो कोई भी बात उठती है, तब उसी का कहने वाला बनता है ।

४९१) यस छ्य यिथि प्रकाशुक विमर्श ।
सुय छ्य तिथि प्रकाशुक आदर्श ॥

जिस पिण्ड को जिस प्रकार के प्रकाश का विमर्श होता है, वही पिण्ड उस प्रकार के प्रकाश को ग्रहण करने वाला दर्पण बन जाता है ।

४९२) निर्मल आदर्श प्रतिबिम्ब ग्राही ।
दर्पणस प्रतिबिम्ब ग्रहणय आही ॥

निर्मल आदर्श ही प्रतिबिम्ब को कर सकता है। प्रतिबम्ब ग्रहण करने के कारण से ही दर्पण की प्रसशां की जाती है

४६३) प्रतिबिम्भ रटवुन द्‌र्शण छुय तोट्‌।
तीलिथ तू मीलिथ प:चस ज़न पोट ॥

प्रकाश के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने वाला दर्पण तुटि है। दर्पण में प्रतिबिम्ब उस तरह से ओत प्रोत होकर रहता है जिस तरह ज़रीकपडे में रेशम ओतप्रोत होकर रहता है।

४६४) निर्मल बोज़ छ्य निर्मल अनुभव।
निर्मल आदर्षस प्यठ डुथ्‌ रव ॥

तू सुनले कि निमल अनुभव ही आदर्श है। जिस तरह से स्वच्छ दर्पण के भीतर सूर्य का प्रकाश ठीक तरह से प्रति-बिम्बित होता है, उसी तरह से निमल अनुभव के भीतर प्रकाश भी अपने शुद्ध रूप में प्रतिबिम्बित होता है।

४६५) चित - प्रकाष द्राव बोज़, हंदि द्वारय।
सत्विमर्ष फ़ुलनोवुन वारय ॥

चेतना का प्रकाश बुद्धि के द्वार से जब बाहर निकला

तो उसने सद्विमर्श को पूरी तरह से विकास में लाया । तात्पर्य यह है कि आत्मप्रकाश के विमर्श का पूरा विकास बुद्धि के ही द्वारा हो जाता है ।

४६६) भाग्यवान युथ विमर्षय फुलवक ।
स्वानुभव वोद युथ रतन्य मुलवक ॥

तू तभी भाग्वान बनेगा जब इस प्रकार के विमर्श को विकास में लाएगा और जब स्वानुभवरूपी ज्ञान से इस प्रकार के रत्न का मूल्य जान लेगा ।

१६७) गाशि वोल इंथि रतनुक जानन वोल ।
भय रोस्तय त्रयलोकी हुदं मोज मोल ॥

इस प्रकार के रत्न को जानने वाला ही सच्चीदृष्टिवाला है, (शेष अन्धे हैं) अथवा यथार्थं दृष्टि वाला महानुभाव ही इस रत्न को जान सकता है । वह निर्भय है और त्रिलोकी का वही माता पिता है ।

१६८) अपरोच्च अनुभव सोस्थ सुगन्यनी ।
बाहियांतह भ्रम रोसतय विगन्यनी ॥

जिससे आत्मा की उपरोक्ष अनुभूति हुई हो वही यर्थाथ

ज्ञानवान होता है उसे वाह्य जगत् तथा आन्तर जगत् में कहीं भी भ्रान्ति नहीं होती है । वही विज्ञानवान् भी होता है ।

४९९) ईछ माया रूप लीला दर्षित ।
छूय आन्नदम्य दिय हॆय हषिथ ॥

अपनी इच्छाशक्ति की परमेश्वरतात्मक माया की लीला के दर्शन के हो जाने पर ही साधक का हृदय हर्षयुक्त हो जाता है और वह स्वयं आनन्दमयी अवस्था में ठहरने लगता है ।

५००) बोज खै चित गुर चरनन सीव़न ।
सत ्गुर पाद् सीव ज़ान संजीवन ॥

हे चित्त, यदि तू मान जाएगा तो गुरु चरणों की पूरी सेवा कर । तू सद्‌गुरु की पाद सेवा को सञ्जीवनी समझ ले ।

५०१) संजीवन ज़ान सुज्ञान सुफार ।
सुज्ञानस्फार ज़ान शिव अवतार ॥

सच्चे ज्ञान के विकास को भी तू सञ्जीवनी जान ले और उस ज्ञान के विकास को ही शिव का अवतार जान ले । तात्पर्य यह है कि जिसमें सच्चे ज्ञान का विकास हुआ हो उस को शरीरधारी शिव ही समझना चाहिए ।

५०२) संवित ज्ञानी जन यति आसि ।
सर्वशक्तिमान शिव तति अवभासि ॥

जहां कोई संवित् स्वरूपनिष्ठ ज्ञानवान् सिद्ध जन होगा, वहां तुम्हें सर्वशक्तिमान शिव का ही दर्शन होगा ।

५०३) त्रासि मोहमल दर्शन मात्रय ।
कासि घटकार हर्षन मात्रय ॥

उस ज्ञानवान् के दर्शन-मात्र से मोहमल डरजाएगा यदि वह तुझपर प्रसन्न होजाएगा तो उस प्रसन्नता मात्र से (अर्थात् अनुग्रहकी एक दृष्टिमात्र से) तुम्हारे अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर हटा देगा ।

५०४) श्रद्धावाननय छुय नित प्रखुट्य ।
भाग्यवान छुय बुद्धिमान सत् भोक्तुय ॥

श्रद्धावान साधकों के लिए वह शिव नित्य प्रकट ही रहता है । बुद्धिमान् सद् भक्त ही वस्तुतः भाग्यवान् है ।

(इति पञ्चदशः समुल्लासः)

ओं श्री गुरवे शिवाय ओं नमः

१) यछ़्खय चित जीवन्मुक्त सापनुन ।
स्थूल मूल निश स्वप्रभा अनुभावुन ।।
चित भा उल्सावुन, मार्तण्ड उदयावुन ।।१।।

हे मेरे चित्त, यदि तू जीवन्मुक्त बनना चाहेगा तो तू इस स्थूल शरीर में से और इसके सूक्ष्म मूल कारणों में से भी अपनी चेतना के प्रकाश का ही अनुभव करले । वहां चैतन्य के प्रकाश को विकास में ले आ और चैतन्य-रूपी मार्तण्ड का उदय करा दे ।

२) स्थूल मूल गव गुरु च़रणय सेवुन ।
स्वप्रकाश आनन्दघन विमर्शुन ।।

इस स्थूल संसार के मूल या अनुसन्धान गुरुच सेवन ही होता है । स्वयं प्रकाशमान् आनन्दघन स्वरूप का विमर्श करना वह अनुसन्धान होता है ।

३) स्थूल मूल गव गणपत सर्वाकार ।
सर्वात्मा चय छ़ुक सर्वाधार ।।

सर्वाकार तत्त्वगणों का पति परमेश्वर ही इस स्थूल जगत् का मूल कारण है। वह तू ही है। तू ही सर्वात्मा है और सभी का आधार।

४) स्थूल मूल गव शिव शक्त स्वात्मारूप ।
चमकावुन स्वात्मोदित सत्दीप ॥

शिव और शक्ति का सामरस्यरूपी स्वात्मा ही स्थूल विश्व का मूल होता है। इस लिए स्वयमेव सततोदित स्वात्मरूपी दीपक ही चमका दे।

५) स्थूल मूल गत्र शब्दातीत रोज़ुन ।
पनुनुय पान तति छुय चमकावुन ॥

स्थूल आदि प्रपञ्चों के मूल कारण पर ठहरना शब्दातीत अवस्था में ठहरना होता है। उस में तो अपनी आत्मा को ही चमकाना होता है।

६) ओं आदि गछि सतगुर हृदि धारुण ।
गुर शब्दस् प्यठ पान रथि खारुन ॥

सदगुरु के उपदेश के द्वारा ॐ आदि शब्दों को अपने हृदय

में प्रतिष्ठित करवा देना चाहिए। फिर गुरु के उस उपदेश पर ही अर्थात उसी का सहारा लेकर अपने आप का उद्धार करना चाहिए।

७) गुर शब्दुक राग लग लग धारुण ।
पनुनुय पान पानय उश्चारुन ॥

गुरु शब्द के प्रति क्षण २ में राग को धारण करना चाहिए। अपने ही आप को अपने ही आप उन्नत बनाना चाहिए।

८) रात्र दिन गुर-वाक्य शब्दावुन ।
पानस सूत्य नित उदयावुन ॥

दिन रात गुरु वांणी का जप करना चाहिए। उसे सदैव अपने साथ साथ रखते हुए सततोदित ही रखना चाहिए।

९) प्राण अपान यव किञ करहन शान्त ।
अज़पा हुन्द पानय ज़ान पर्यान्त ॥

तू उस अजपा जय का रहस्य स्वयमेव जान ले, जिस के द्वारा तू प्राण और अपान को शान्त कर सकेगा।

१०) अनुग्रह किञ यलि उदय सांपनिस ।
पानय त्यलि हृत्कमल फुलनस ॥

जब शिव के अनुग्रह से उस अजपा मन्त्र का उदय हो जाएगा, तो हृदय कमल स्वयमेव विकास को प्राप्त होगा ।

११) अभ्यास कर अविछिन रात्र-दिन ।
हृत्कमल विकसित छुय निरान्त ॥

तू दिन रात लगातार अभ्यास करता रह। उसे तुम्हारा हृदय कमल निरन्तर विकासित होता रहेगा ।

१२) शिव - स्वप्रकाश चमकावुन चित्भान्त ।
मन–प्राण चित अभ्यास किञ बनि शान्त ॥

चिद्रूा-रूपी अर्थात् चैतन्य की अपनी चमक रूपी स्वयम्-प्रकाशमान् शिवप्रकाश को तू चमकादे। मन और प्राण चित्शक्ति के अभ्यास से शान्त हो जाएगे ।

१३) शब्दस सत्य प्राण अपान करतन लय ।
सुषुम्नायि हुन्द पानय बनि जय ॥

अनाहत शब्द (नाद) के साथ ही साथ तू प्राण और अपान का भी लय करता जा। उससे सुषुम्ना नाडी का जब स्वयमेव हो जाएगा।

१४) यलि तत्पर रोज़क रात्र - दिन ।
सुषुम्नायि वेशि करतन अर्पण ॥

जब तू दिन रात अभ्यास में लगा रहेगा, तो तू अपने चित्त को सुषुम्ना को ही अर्पण करदे अर्थात् उसे सुषुम्ना में विलीन कर दे।

१५) इडा पिंगला सुषुम्नायि लय ।
गुर अनुग्रह यस तस बनि युथ ज़य ॥

अभ्यास से इडा और पिंगला भी सुषुम्ना में ही लीन हो जाती है। जिस पह गुरु का अनुग्रह हुआ हो उसको ऐसी विजय प्राप्त होती है।

१६) त्रिपुटी भेद पाञ पानय चलि सोरिय ।
तति पाथिन अभ्यास कुनि लोरुय ॥

तब प्रमाता, प्रमाण, और प्रमेय रूपिणी त्रिपुटी का भेद भी सारे का सारा स्वयमेव विलीन हो जाता है। उस स्थिति में किसी आलम्बन पर टिका हुआ अभ्यास ठहर ही नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि उस स्थिति में निरालम्बन योग का ही अभ्यास हो सकता है।

१७) गुणातीत तिथ् सांपनक पानय ।
स्वात्मादित उदयस यियि पानय ॥

उस से तू उसी प्रकार से अपने आप हीं गुणातीत हो जाएगा। सततोदित रहने वाला आत्म स्वरूप तुम्हें स्वयमेव उदय को प्राप्त होगा।

१८) मन प्राण चित व्रत रोज़िय न् कुनि लारय ।
सुषुमानयि हज़ पूज़ छक सारय ॥

मन प्राण और चित्तवृत्ति कहीं भी तेरे साथ चिपटे नहीं रहेंगे। यह सारी प्रक्रिया सुषुमना की उपासना होती है।

१९) सत्व रज़ तम रूप तति सोरुय लय ।
बृह्म नाडी मंज़ करि यलि ईश्वर क्रय ॥

वहां सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के रूप में ठहरा हुआ सब कुछ बिलीन हो जाता है। यह तब होता है जब ईश्वर ब्रह्मनाडी में अर्थात सुषुमना में सकलीकरण की क्रिया को करता है।

२०) जाग्रत स्वपन सुषुप्ता अवस्था ।
अन हुन्द अभ्यास तति रोज़्यस न् ज़ाह ॥

वहाँ उस स्थिति में जाग्रत, स्वपन और सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं का अभ्यास आदि व्यवहार कोई कभी भी नहीं ठहरता है, वह व्यवहार विलीन ही हो जाता हैं ।

२१) ब्रह्मा रूप ज़ग्रत कुय देवता ।
सुय विष्णु रूप छुय स्वपनावस्था ॥

जाग्रत अवस्था के अदिष्ठातृ देवता ब्रह्माजी हैं । वह शिव ही इस रूप में वहां ठहरता है । वही विष्णुरूप में ठहरता हुआ स्वपनावस्था का अधिष्ठातृ देवता बनता हैं ।

२२) सुषुप्ता रूप छुय शिव मूर्ति ।
त्रिन हुन्द ज़ावन चूर्यम स्फूर्ति ॥

वही सुषुप्ति की अवस्था के उपर अदिष्ठान करता हुआ रुद्ररूप में ठहरता है । इन तीनों अवस्थाओं को जीवन दान देने वाली तुर्या की स्फूर्ति अर्थात उसकी चैतन्मयी फड़कन होती है ।

२३) स्थूल - जाग्रत यवृ किञ सांपनिय लय ।
स्वप्रभा शक्ति पानय करि उदय ॥

तुर्या की स्फूर्ति वह होती है जिसकी महिमा से तुझे जाग्रत दशा के इस सारे स्थूल प्रपञ्च का लय हो जाएगा और

स्वप्रभा अर्थात स्वयमेव अपनी ही महिमा से प्रकाशमान शक्ति का उदय तुझे स्वयमेव हो जाएगा ।

२४) बु तु च़य सुय भाव तयलि चलि पानय ।
यलि बनि पननेय पानूच ज़ानय ॥

जब अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान आ जाएगी तो तब साधक को अपने आप ही "मैं, तू और वह" इन भावों के वास्तविक तत्व की संवेदना हो जाएगी ।

२५) ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता भीद छुय ।
स्वविमर्श वेशि प्रावक तमिकुय ज़य ॥

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ऐसा विचार ही भेददर्शन होता है । उसके ऊपर विजय को तू स्वविमर्श के द्वारा अर्थात अपने वास्तविक स्वरूप के विमर्श के द्वारा प्रापत करेगा ।

२६) वुछुन तू वुछनीय वुछनवोल भीद ।
स्वविमर्श अभ्यास करि तमिकुय छेद ॥

देखना, देखने की विषय और देखने वाला प्रमता, इस प्रकार की कल्पना को भेद कहते है इस के उच्छेद को आत्मस्वरूप का विमर्शस्वयमेव कर देगा ।

२७) सर्व इन्द्रिय वृत द्वादशान्तस शान्त ।
मन प्राण चित व्रत त्रावि तमिचय भ्रान्त ॥

द्वादशान्त स्थान में (अर्थात हृदय में या नासिका से बाहर नीचे की ओर ठहरे आकाश में, या शिखा के उपर ठहरे आकाश में) समस्त इन्द्रियों की वृतियां शान्त हो जाएंगी । मन प्राण और चित्तवृत्ति भी उस भेद कल्पना की भ्रान्ति का परित्याग कर देंगे ।

२८) स्वप्रभा संवित पान पानय जांनिय ।
सर्वातमा चिन्मय रूप मानिय ॥

वहे स्वयं प्रकाशमान शुद्ध संवित अपने आप ही अपने आप को जान लेगी । वह अपने सर्वात्मक चैतन्यमात्र को ही अपना स्वरूप मान लेगी ।

२९) चिन्मय स्वप्रभा तुर्या शय छ्य ।
स्वप्रकाश विमर्श घन शिव उदय ॥

चैतन्यमयी, स्वयं प्रकाशमान तुर्या की स्थिति ही स्वप्रकाश और विमर्श घन शिवभाव का उदय है ।

३०) स्वप्रभा चिनमय मूर्ति निशचल ।
सर्वरुपस छुय आसित सुय बल ॥

स्वयं प्रकाशमान निशचल चैतन्मयी मूर्ति ही समस्त रूपों को अभिव्यक्त करने वाली स्वातन्त्रय शक्ति है ।

३१) 'स, ह, म' मात्रात्मा बनि यलि लय ।
स्वप्रभा सावित् मुचि पत चिनमय ॥

जब "सोहम" में से "स, ह और म" इन तीनों मात्राओं का लय हो जाएगा तो उसके अनन्तर एकमात्र स्वप्रकाश और चैतन्यात्मक संवित ही शेष रहेगी ।

३२) बृह्माण्डस प्यठ यलि बनि आसन ।
पनतुय पान पानय छुय भासन ॥

जब ब्रह्मान्ड के ऊपर प्राणी का आसन बन जाएगा, अर्थात जब उसे सारे ब्रह्मान्ड में ठहरी हुई अपनी व्यापकता को संवेदना हो जाएगी, तो अपना ही आप अपने ही आप प्रकाशमान होता हुआ अनुभव में आएगा ।

३३) स्वप्रकाश संवित छुय विमर्शन ।
चैतन्यमय शिवरूपुक दर्शन ॥

स्वप्रकाश संवित का विमर्शन ही चैतन्यमयी विश्व रूपता का दर्शन होता है ।

३४) द्वादश भान द्वादशन्तस कर लय ।
मार्तण्ड चितभान शिव शक्ति उदय ॥

बारह सूर्यों का लय तू द्वादशान्त में कर दे । फिर चैतन्यात्मिय मार्तण्ड नामी तेरहवें सूर्य रूपी शिव की शक्ति का उदय तुम्हें हो जाएगा ।

३५) मन प्राण खस् - वस ब्रह्माण्डस शान्त ।
स्वप्रकाश चिन्मय मूर्ति शिवनाथ ॥

तेरा मन भी शान्त हो जाएगा और शरीर रूपी ब्रह्माण्ड में प्राण का उतार चढाव भी शान्त हो जाएगा । तू स्वप्रकाश चैतन्य स्वरूप शिवनाथ ही बन जाएगा ।

३६) चित व्रत वोज़ हुन्द अभयास त्रावक ।
सुषुमनायि मंज़य खस वस थावक ॥

तू चित्रवृति का तथा दुद्धि वृतियो का परित्याग करेगा और सूषुमना नाडी के बीच में से चढने और उतरने का अभ्यास करता रहेगा ।

३७) परा पश्यन्ती स्वप्रकाशमय ।
ब्रह्माण्डस मंज़ करवञ्‌ छय शय ॥

स्वप्रकाशात्मक परा वाणी और वैसी ही पश्यन्ती वानी ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके ठहरी है ।

३८) मध्यमा बाह्यान्तर फेरान ।
वैखरी सायिकुय व्यवहार छय करान ॥

मध्यमा वाणी बाह्यान्तर विषयों में विचररण करती है अर्थात भेदात्मक विषयों का आवभास करती है । वैखरी समस्त विषयों से स्फुट व्यवहार करती है ।

३९) वर्तमान जाग्रत रूपी व्मवहार ।
भविष्यत स्वपनस्थानुक छुय आधार ॥

वर्तमान कालिक जाग्रत अवस्था का व्यवहार भविष्यत में होने वाली स्वपन दशा के व्यवहार का आधार होता है ।

४०) भूत सुषुप्त निष्कल शिव शक्ति रूप ।
तुर्या छय चमकित सर्यनय दीप ॥

भूतकाल का सुषुप्त भाव निष्कल शिव - शक्ति रूप होता है । तुर्या दशा दीपक के प्रकाश की तरह इन सभी को प्रकाशित करती रहती है ।

४१) तलॖ पदि प्यठ शेर किस अन्तस तान्य ।
स्वप्रकाश चमकित चितभा छय नान्य ॥

आत्मस्वरूप चिति की आभा पैरों के नलवों से लेकर सिर के ऊपरी शिखर तक अपने प्रकाश से चमकती रहती है ।

४२) सुय बल छुय चमि तुरून ज़ानान ।
सुय बल छुय तोत वुशुन मानान ॥

वही (चित प्रतिभा का) बल त्वचा में है, जिस से वह सर्दी गर्मी आदि का संवेदन भी कराती है और उनकी कल्पना भी उस उस रूप में कराती है ।

४३) सुय बल नस्रन छुय गाश करवुन ।
सुय छुय कुडुन कोव ब्योल सुरवुन ॥

वही बल नेत्रों में प्रकाश करने वाला है । वहीकाले सफ़ेद आदि की अलग अलग कल्पना करता रहता है ।

४४) सुय छुय नस फूकंवुन रात्र दिन ।
गन्धादिक पोशन छुय रटवुन ॥

वही बल नाक के रूप में दिन रात सूगंता रहता है और वही फूलों आदि का ग्रहण करता रहता है ।

४५) सुय कण द्वार छुय शब्द पज़्नावान ।
छोट ज़्यूठ चबदुक विस्तार थावान ॥

वही बल कानों के द्वारा शब्दों को पहचानता रहता है । वही शब्दों की हृस्वता, दीर्घता आदि के भेदों की कल्पना कराता रहता हैं ।

४६) सुय छुय ज्यवि हुन्द स्वाद वुछनवोल ।
यिथ् पाठय कुलयुक ज़ीवन छुय ब्योल ॥

वही बल जिहवा से स्वाद की संवेदना प्राप्त करने वाला है । वही इस व्यवहार का मूलाधार है । जिस तरह से वृक्ष का जीबन उसका बीज होता है ।

४७) टेठि मेठयुक विस्तार कोर बल सूतय ।
यि छि सोरुय चैतन्य रूप्च रीतिय ॥

उसी बल से कडवेपन और मीठेपन का व्यवहार किया गया है । यह समस्त व्यवहार चैतन्य रूपी आत्मदेव का स्वभाव है ।

४८) कथ् करञय जिवि छुय सत्य स्वभाव ।
यि छु सोरुय स्वप्रकाशुक प्रभाव ॥

बात बोलना ही जीभ के साथ अर्थात वानी के साथ बन्धा हुआ उसका स्वभाव है । यह सब कुछ स्वप्रकाश चित्-प्रतिभा का ही प्रभाव है ।

४९) काम क्रूद ज़यवि हुन्द स्वभाव आसित ।
चैतन्य देव सॉयसूय मंज़ भासित ।

काम क्रोध आदि के रूप में और जीव के स्वभाव के रूप में ठहरा हुआ चैतन्यातमक भगवान ही वस्तुतः सभी में भासमान होता रेहता है ।

५०) वुठन हंज़ तुल त्राव छय बल सूत्य ।
क्षेत्रज्ञस मंज़ छय सॉयचिय प्रीतिय ॥

होंठों की गति भी चैतन्य के ही बल से चलती है । क्षेत्रज्ञस में अर्थात जीवात्मा में इन सभी के प्रति प्रीति है । अर्थात उसे इन समस्त व्यवहारों को इन इन कारणों के द्वारा करवाने की इच्छा है ।

५१) ववि हुन्द् स्वभाव दुध छूस आसित ।
स्वप्रकाश चैतन्य बल छुस भासित ॥

स्तन का यह अपना स्वभाव ही है कि उस में दूध विद्यमान रहता है । इसमें भी स्वप्रकाश चैतन्य का स्वाभाविक बल व्याप्त होकर भासता रहता है ।

५२) तमि सूत्य जीवन छु वातान जीवन ।
संवित बल संजीवन छुय दीवन ॥

देवतावों को भी जीवन दान देने वाला संवित का ही बल होता है और उसी से समस्त जीव भी जीवित रहते है ।

५३) नरि तुल त्राव बल किञ छुय करवुञ ।
स्वप्रकाश चिन्मय सायसूय मंज़नञ ॥

बाजू संवित के बल से ही ऊपर नीचे गति करती है और आदान प्रदान करते हैं । स्वप्रकाश चिन्मय संवित सभी में प्रकट है ।

५४) लोत गोब अथकुय तूलत्राव स्वभाव ।
यि छु सोरुय चैतन्युक प्रभाव ॥

हलके और भारी वस्तु का उठाना और छोढना हाथ का स्वभाव है । परन्तु यह सारा मूलता चैतन्य का ही प्रभाव है ।

५५) ओंगजन हुन्द स्वभाव अन्न दावून ।
ओपरावन वोल चैतन्य ननि नोन ॥

अंगुलियों का स्वभाव अन्न को खिलाना अर्थात मुख में पहुँचा देना है, परन्तु उस अन्न को पचाने वाला चैतन्य ही है यह बात सुप्रकट ही है ।

५६) ओंगजन खस वस स्वातमस छय प्रय ।
यि छि च्यत भानच सारय क्रय ॥

अंगुलियां ऊपर उठती और नीचे उतरती हैं । जीव को खाने में प्रीति है । परन्तु यह सारी की सारी क्रिया मूलता चिन्द्भानु की अर्थात चित सूर्य की ही है ।

५७) नमन हुन्द विषय कशनावान ।
यि छि वलूच सन्‍ थावान ॥

नाखुनों का विषय खुरचना या खुजलाना । परन्तु यह भी संविदबल की ही एक प्रकार की सन्मुखता की स्थापना ही होती है ।

५८) गुहिस्थान वल् किञ मल त्रावान ।
स्वप्रभा स्व अति किञ वातनावान ॥

गुदद्वार सविदबल से ही मल का उत्सर्ग करता रहता है । स्व-प्रभा रूपी सूर्य इदर भी व्याप्त होकर ऐसा कराता है ।

५९) लिगस्थान बल किञ ज़ल त्रावान ।
यि छु प्रभाव बल कुय ब्योन थावान ॥

· लिड़ग स्थान भी संवित के बल से मूत्र का परित्याग करता रहता है । यह सब कुछ उस बल का ही पृथक प्रकार का प्रभाव है ।

६०) जंगव सृत्य चल छुय दोरनावान ।
चैतन्युक महिमा छुय हावान ॥

टांगो के द्वारा संवित का बल ही प्राणी को दोड़वाता है। वह इस तरह से चैतन्य की महिमा को प्रकट करता है।

६१) पादव क्रिञ बल वुठ तुलनावान ।
यि छु बलकुय स्वभाव खेलनावात ।

संवित का बल पैरों के द्वारा ईछल कूद करवाता है। वस्तुतः उस बल का स्वभाव ही इस तरह से खेल कराता रहता है।

६२) ओंगजन हज़ं वस खस प्रियवुञ तस ।
यि छु चित-भानुक उलसून छूय यस ॥

अंगलियों का ऊपर चढना और नीचे उतरना जीव को प्रिय लगता है। परन्तु ऐसा उसी को होता है जिसे चैतन्य रूपी सूर्य उल्लास में लाता है अर्थात उसके उल्लास से ही ऐसा होता है।

६३) ओमूय एकाक्षर ब्रह्म ज़ानुन ।
तुर्या परा पशयन्ति स्वप्रभा मानुन ॥

तू एक अक्षर ॐ को ही पारब्रह्म समझ ले । उसी को तू तुर्यादशा और परावाणी तथा पष्यन्ती वानी भी मान ले । यह सब कुछ तू उसका अपना प्रभाव मान ले ।

३४) ओमूय अत्तर वसन देवी ।
सुय चमकान परा पश्यन्ति ॥

ॐ कार रूपी अक्षर ही वासना देवी है । वही परा और पशयन्ती के रूप में चमकता है ।

६५) वृह्माण्डस प्यठ छय तम्यसंज़ शय ।
सर्वतो आसुन छय तम्यसंज़ प्रय ॥

ब्रह्माण्ड के ऊपर उसका स्थान है । सर्वत्र व्यापय भाव से ठहरना उसकी रुचि है ।

६७) ओमूय मध्यमा ज्ञानियन हंज़ शय ।
वैखरी रूप् अनुभावान सुय क्रय ॥

ॐ कार ही मध्यमा वाणी है । वही ज्ञानियों का आधारभूत स्थान है । वह क्रिया के रूप में वैखरी वाणी का अनुभव करा देता है ।

६७) ओमूय ज़ाग्रत स्वप्न छूय बल ।
ओमूय सुषुप्त तूर्या निर्मल ॥

ॐकार रूपीं संविदबल ही जाग्रत और स्वपन भी है। ॐ कार ही सुषुप्ति भी है और निर्मल तुर्या भी है।

६८) ओमूय ब्रह्मा विशणु शिव रूप ।
ओमूय ईश्वर सदा शिव दीप ॥

ॐ कार ही ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का स्वरूप है। ॐकार ही ईश्वर और सदाशिव रूपी दीपक है।

६९) ओमूय भू भुवः स्वः छूय त्रिभुवन ।
ओमूय चेत्रस मंज़ सुय शूभवुन ॥

ॐ कार ही भू, भुवः, स्वः, नाम के तीन भुवन है। ॐ कार ही शरीर के भीतर रहता है। वही अत्यन्त शोभायमान है।

७०) ओमय 'अ ह, म' उलसावून ।
ओमय सर्व तन्वन चमकावान ॥

ॐ कार ही " अ, ह और म" इन वर्णों को उल्लास में लाता है ; ॐ कार ही सभी तत्वोंको चमकाने वाला है ।

७१) ओमय 'तत्सवितुर्वरेण्यम् छुय' ।
ओमय 'भर्गात्मा' सर्व इन्द्रिय ॥

ॐ कार ही "तत् सवितुर्वरेण्यम्" है । ॐ कार ही तेज स्वरूप भर्गात्मा है और वही समस्त इन्द्रियां भी है ।

७२) ओमय 'देवस्य' चैतन्यमय ।
ओमय चवापोर करवुन जय ॥

ॐ कार ही उस क्रीडनशील पर ब्रह्म देव का चैतन्मय स्वरूप है । वही चारों ओर से जयशील होता रहता है । अतः उसे ही नमस्कार हो ।

७३) ओमय 'धीमहि' चित प्रकाश ।
ओमय अन गाशन हुन्द गाश ॥

ॐ कार - रूपी चितप्रकाश का ही हम ध्यान करते हैं । ॐ कार ही सूर्य, चन्द्र और अग्नि रूपी तथा प्रमान, प्रमेय और प्रमाता रूपी तीन प्रकाशों का भी प्रकाश है, अर्थात उनको भी प्रकाशता का प्रदान करने वाला है ।

७४) ओमय 'धियो यो नः' चिन्मय ।
ओमय सर्वतो करवुन छुय उदय ।

ॐ कार ही हमारी बुद्धियों का चिन्मय प्रेरक है ।
ॐ कार ही सभी ओर से उदय को प्राप्त होता रहता है ।

७५) ओमय 'प्रचोदयात' शिवमय ।
ओमय संवित–चैतन्य सुय छुय ॥

शिवमय ॐ कार ही हमें अनुग्रहात्मक प्रेरणा करे ।
वह ॐ कार ही संविदात्मक चैतन्य है ।

७६) ओमय प्राणुक चैतन्य वहवुन ।
ओमय अपाणुक छुय शीतवुन ॥

ॐ कार ही चैतन्य है । वह प्राण का उच्चार करने वाला है। ॐ कार ही अपान को शीतलता देने वाला है ।

७७) ओमय व्यान, समान उदान छुय ।
ओमय सुषुमनायि हंज़ छय प्रय ॥

ॐ कार ही समान, उदान और व्यान नामक प्राण है। सुषुमना की प्रियता भी ॐ कार ही है। तात्पर्य यह है कि ॐ कार नामक शुद्ध चैतन्य ही की महिमा से सुषुमना नाढी साधकों को प्यारी लगती है।

७८) ओमय पचं-तत्व-आत्मा ज़ानुन।
ओमय ज़ीवन सारिनय माणुन॥

ॐ कार को ही पांच महाभूतों की आतमा जान लो ॐ कांर को ही समस्त प्राणियों का जीवन मान लो।

७९) ओमय पृथवी ओमय छुय ज़ल।
ओमय क्षेत्र ओमय छुय बल॥

ॐ कार ही पंथवी है, वही जल है। ॐ कार ही खेत है और ॐ कार ही बल है।

८०) ओमय छुय अग्न ओमय वायु।
ओमय चित भान सांयकुय त्रायु॥

ॐ कार ही अग्नि है और वही वायु है। ॐ कार ही चित् - सूर्य है और सभी पदार्थों का त्रयायुश है।

८१) ओमय चैतन्य आकाश शून्य छूय ।
ओमय ज़ीवन सर्वस्था नोन सुय ॥

ॐ कार ही प्रपञ्च से शून्य शुद्ध चैतन्य रूपी आकाश है । वह ॐ कार ही जीवों की ध्वनि में सर्वत्र सभी अवस्थाओं में स्पष्ट नया प्रकट हो रहा है ।

८२) ओमय बाह्यान्तर शून्याकार ।
ओमय सर्वतो चित भानसुफार ॥

ॐ कार ही बाहर से और भीतर से प्रपञ्च शून्य आकार वाला है । ॐ कार ही चारों ओर होने वाला चिदभानु का स्फार है ।

८३) ओमय शेरस प्यठ पादन तान्य ।
ओमय सर्वस्था बियि छून नाञ ॥

सिर से लेकर पैरों तक ॐ कार ही व्याप्त होकर ठहरा है सभी अवस्थाओं में ॐ कार ठहरता ही है, और कोई भी नही ठहरता ।

८४) ओमय त्रन पुरन हुन्द गाशर ।
ओमय छूय चित भान पान ईश्वर ॥

तीन पुरों को अर्थात जाग्रत आदि तीन को प्रकाशमान बना देना वाला ॐ कार ही हैं । ॐ कार ही चित् सूर्य है । वही स्वय परमेश्वर है ।

८५) ओमय अख ईन्द्रय वुछ्वुन छुय ।
ओमय रुपादिक ज़ानुन सुय ॥

एकमात्र ॐ कार ही इन्द्रिय रूप में ठहरता हुआ विषयों का ग्रहण करने वाला है । वह ॐ कार ही रूप आदि विषयों को जानने वाला है ।

८६) ओमय नित्य ह्योर बुन कारवुन छुय ।
नित्योदित भूमि मंज़ सुरुन सुय ॥

नित्य ॐ कार ही सब व्यवहार करने वाला है । तू उसी का ध्यान नित्योदित भूमिका में करता रह ।

८७) ओमय कुण्डलिनी मंज़ छुय फेरान ।
ब्रह्म नाडी किञ प्रकाश नेरान ॥

कुण्डलिनी के चक्रों में ॐ कार हो सञ्चरण करता है । वही ब्रह्मा नाडी के बीच में से निकलते हुए प्रकाश के रूप में प्रकट होता है ।

८८) ओमय सर्व नाडी हुन्द ज़ीवन ।
प्रकाश चित भान पान छ़ुय उलसन ॥

समस्त नाडियों का जीवन ॐ कार ही है । वही प्रकाश है और वही चित् सूर्य के रूप में सर्वत्र स्वयं-उल्लसित होता है ।

८९) ओमय शब्दातीत बल ज़ानुन ।
चित भैरव स्वात्मादित मानुन ॥

ॐ कार को ही शब्दातीत संविदबल जान ले । उसे ही स्वात्मरूपी सूर्य और चिन्द्र भैरव मान ले ।

९०) ओमय चुयशीति रुप् छ़ुय ननि नोन ।
देत्रस मंज़ चमकान छुय सुय कुन ॥

ॐ कार ही चौरासी लाख प्रकार के प्राणियो के रूप में प्रकट हुआ है । उनके शरीर के भीतर वही एक जीवरूपतया चमक रहा है ।

९१) ओमय वृक्ष रूप नाभिकमलुक बल ।
केवल चैतन्य स्वप्रकाशुक छल ॥

ॐ कार ही ब्रह्मस्वरूप है । वही नाभिकमल का बल है । वह एकमात्र चैतन्य ही है । वह स्वप्रकाश का आन्तर रहस्य है ।

९२) ओमय हृदाकाशुक चित रव ।
रात्र दिन तत्पर चय् कल थाव ॥

ॐ कार ही हृदय रूपी अकाश का चैतन्यात्मक नाद है । तू दिन रात उसी का विमर्श करता हुआ उसी के प्रति उत्सुक बना रह ।

९३) ओमय द्वादशान्तस जीवन छुय ।
चैतन्य शिव - शक्त चमकित अद्वय ॥

द्वादशान्त स्थानों को जीवन दान देने वाला ॐ कार ही है । वह शिव और शक्ति का अदवैत सामरस्य है और प्रकाशमान चैतन्य है ।

९४) ओमय तूर्यिमि पादुक बल छुय ।
चिन्मय स्वप्रकाश पानू आसित सुय ॥

चतुर्थपाद का, अर्थात तुर्या दशा का बल ॐकार ही है । वही अपने आप ही स्वयं प्रकाशमान चैतन्य के रूप में ठहरा है ।

९५) ओमय तुर्यातीत चैतन्य शून्य ।
आनन्दघन संवित छय रोज़वज ॥

ॐकार ही प्रपञ्च शून्य तुर्यातीत चैतन्य है । वही आनन्दघन संवित है जो सदैव विद्यमान ही रहता है ।

९६) ओमय सत् शब्दचि शय ।
सुय प्रथ प्राण्च आसवुन सत्क्रय ॥

सत् शब्द का स्थान अर्थात आलम्बन ॐ कार ही है । प्राण अपान आदि प्रत्येक प्राण की उत्तम क्रिया ॐ कार ही है। तात्पर्य यह है कि ॐ कार नामक शुद्ध चैतन्य ही समस्त प्राणों की क्रियाओं का स्रोत है ।

९७) जड चीतन फेरवुन सर्वरूपस ।
चित् भैरव स्वप्रभा ज्योति छय तस ॥

'सम्सत जड और चैतन पदार्थों के रूप में ॐ कार ही गतिशील है । वह भैरवात्मक चैतन्य है और स्वयं प्रकाशमान चैतन्य ज्योति उसका स्वभाव है ।

९८) सुय जल छुय जाग्रति रुपय तीज़ ।
सुय छूय स्वप्न थानुक यतबीज़ ॥

वही ॐकार रूपी जल जाग्रत अवस्था के रूपों को चमकाने वाला चैतन्य का तेज है । वही जल स्वप्न अवस्था का सच्चा मूल कारण है ।

९९) सुय जल छूय सुषुप्ति शिव अदद्वय ।
सुय जल छुय निर्मल चूर्यम शय ॥

वही जल सुषुप्ति है और अदवैत शिव है । वही जल निर्मल तुर्या स्थान भी है ।

१००) सुय जल छुय तुर्यातीत चिन्मय ।
स्वप्रभा चमकित चोपार्य छय ॥

वही जल तुर्यातीत पद है । उसकी अपनी स्वभाविक चैतन्यात्मक प्रभा चारों ओर चमकती रहती है ।

१०१) सूय ज़ल मनु रुप् संकलप करवुन ।
बृह्मा ज़ाग्रति रूपस सुरवुन ।

मन के रूप में ठहरता हुआ वही जल संकल्प करता रहता है। वहीं ब्रह्मा है और वही जाग्रत अवस्था के रूप का विमर्श करने वाला है।

१०२) सुय जल छूय चित व्रति सरवुन नेता ॥
स्वप्नस्थानुक विष्णु छूय चमकित ॥

वही जल चित्तवृति को नित्य सुखी बनाता है। वही स्वप्रस्थान के विष्णु के रूप में चमका हुआ है।

१०३) सूय ज़ल छूय सुषुप्ति थानुक बल ।
ईशवर रुप आसित छूय निर्मल ॥

वह जल सुषुप्ति भूमिका का बल है वह ईश्वर के रूप में ठहरा हुआ है और निर्मल है।

१०४) सूय ज़ल बोज़ वेशि सूविजार करुन ।
पाञ पानय पान चित भान सरुन ॥

वही जल बुद्धि के भीतर सदविचार करवाता है। वही अपने आप ही अपने चिदभानु का स्मरण भी करता रहता है।

१०५) सूय जल पुरुषा आदि अन्तस ताज ।
निरंजन अव्यय व्यापक नाज ॥

वही जल आदि से लेकर अन्त तक ठहरने वाला, निर्मल विकार रहित और व्यापक पुरुष है ।

१०६) सूय जल प्रकृति उल्लास दारवुन ।
क्षेत्रस मंज़ सॉंयसय छूय फेरवुन ॥

वही जल प्रकृति के उल्लास के रूप को धारण करके क्षेत्र में अर्थात शरीर में सर्वत्र व्याप्त होकर रहता है ।

१०७) सत् रूप गव जाग्रत तुर्यां शय ।
शिव शक्ति मय चित गव अव्यय ॥

तुर्या दशा की जाग्रत सदरूपता का अदिष्ठान होती है। शिव - शक्ति का सामरस्य स्वरूप जित सूर्य अव्यय तत्व है । अथवा — जाग्रत प्रपञ्च सदरूप होता है, अर्थात स्फुष्ट समरूपता से आभासित होता है । परन्तु उसका अदिष्ठान तुर्या दशा ही है । विकार रहित तथा सदैव एकरूपता में ठहरने वाला तत्व तो शिव - शक्ति सामरय - स्वरूप चितसूर्य ही होता है ।

१०८) चित रुप गव स्वप्नुक वाह्यान्तर ।
वामदेव् संकर्षण हरि हर ॥

स्वपनके बाह्य और आन्तर चिदरूप देवता वामदेव और संकर्षण रूपी नारायण और रुद्र हैं । अथवा — चिदरूप परमेश्वर ही स्वप्न का आन्तर प्रमेयरूप प्रपञ्च होता है । वही वामदेव भी है, वही सङ्कर्षण भी है, विष्णु भी है और रुद्र भी है ।

१०९) आनन्दमय गव सुषुप्ति शिव रूप ।
तुर्यातीत स्वप्रभा चिन्मय दीप ॥

सुषुप्ति दशा शिवरूपिणी होती हैं । अतः वह आनन्दमयी तुर्यातीत तत्व ही वह शुद्ध चिन्मय दीपक है । जो अपनी ही प्रभा से स्वयमेव चमकता हुआ सभी दशाओं को भी चमकाता रहता है ।

ॐ श्री सत्गुरु सहाय ॥

५०५) भक्त छिय उपायान्तर नेरि ।
भक्तियि निश भक्तिज़न मा फेरि ।।

५०६) भक्तिज़न योद् कँह उछनि नेरि ।
नीरित त फीरिथ छुय निशि नेरि ।।

५०७) निरिर नित्योदित स्वात्मदर्शन ।
निरिर नित्योदित विमर्शन ।।

५०८) निरिर तिथ युथ् सूर्यस् प्रकाश ।
निरिर तिथ युथ् दोन् नेत्रन गाश ॥

५०९) प्रकाशस मंज़ युथ् सूर्यस वास ।
तिथुय सन्तन नित्योदित अभ्यास ॥

जिस तरह से सूर्य के प्रकाश के भीतर स्वयं सूर्य निवास करता है, अर्थात सूर्य का प्रकाश सूर्यात्मक ही होता है ; उसी तरह से सन्त लोगों का अभ्यास नित्योदित होता है । तात्पर्य यह है कि सन्त महानुभाव व्यवहार में ठहरते हुए भी अहोरात्र शिवभाव के साक्षात्कार के अभ्यास में ही होते हैं ।

५१०) विमर्शारुढ् छुय रटिरोस्तुय ।
नित नित्योदित सत् बोद सोस्तुय ॥

जो आत्म विमर्श पर आरूढ हो गया हो, वह बन्धन। शून्य होता है । वह नित्योदित यर्थाथ ज्ञान से युक्त होता है

५११) सुज्ञानान्नद मद छिव्योमुत ।
बोध प्रभाव गिन्तिय निश प्योमुत ॥

वह सत्यज्ञान के आनन्द की मस्ती से मस्त हुआ होता है और बोध अर्थात सत्यज्ञान के प्रभाव से गिनती से छूटा हुआ होता है ।

५१२) सर्वान्तर जीवन एकैव ।
सर्वात्रात्मा संजीवन सैव ॥

सब की अन्तरात्मा एक ही होती है । वही सर्वात्मक है और समस्त जीवधारियों का जीवन वही है । वह अन्तरात्मा वही सत्यज्ञान वाला सिद्ध जन होता है ।

५१३) चितचमत्कार आनन्दुक भागी ।
स्वज्ञान स्फुरार बोधुक रागी ॥

वह सत्यज्ञान वाला योगी चित् तत्व के चमत्कार के आनन्द का सेवन करता रहता है । वह अपने सच्चे ज्ञान के विकास के बोध से ही राग रखता है अर्थात उसी में उसकी रूची रहती है ।

५१४) इथ् तिथ् यति तति छुय आनन्दी ।
सत्पुरुषस नित चरणन वन्दी ॥

वह जहां कहीं भी हो और जिस किसी भी स्थिति में हो; फिर भी आनन्द का ही अनुभव करता रहता है । ऐसे सज्जन के चरणों को नित्य नमस्कार हो ।

५१५) चित् सत्पुरूपस च़रण्य सीवक ।
शुद्ध प्ररकच किज चरणान तल ज़ीवक ॥

हे चित्त यदि तू ऐसे सत्पुरुष के चरणों की सेवा करेगा तो शुद्ध प्रकरती से
तू उसके चरणों के नीचे जीवित रहेगा ।

५१६) शुद्ध भक्त स्वज्ञान स्फारार्थी ।
सर्वसंलपादिक समहारर्थी ॥

सच्चा भक्त केवल आत्मज्ञान के विकास का ही अभिलाशी होता है । वह समस्त सङ्कलप विकल्प आदि के सहार का इच्छुक होता है ।

५१७) रागी सर्वाभिलाषुक त्यागी ।
त्यागी स्वज्ञान स्फार रागी ॥

वह रागी अर्थात प्रेमी होता हुआ भी समस्त अभिलाषाओं का त्यागी होता है । त्यागी होता है । त्यागी होता हुआ भी आत्मज्ञान के स्फार के प्रति रागी होता है ।

५१८) यर परलोक वासनायि निश गोमुत ।
स्वज्ञानस्फार यत्नस प्योमुत ॥

वह परलोक - सुख की वासना से मुक्त हुआ होता है और आत्मज्ञान की प्रथा के प्रति यत्न में लगा रहता है ।

५१९) अर्पित मन बुद्ध आसि सेवाकार ।
निष्काम पद सीवक बारंबार ॥

वह मन और बुद्धि को आत्मज्ञान में ही अर्पित करके अपने उपास्य की सेवा में लगा रहता है । वह पुनः पुनः निष्काम पद का सेवन करता रहता है ।

५२०) संकल्पव निशु मन पत्य चांनिथ ।
निष्कल चित निष्काम पद थांनिथ ॥

वह अपने मन को सङ्कल्पों से निवृत्त करके और चित्त को निष्कल तथा निष्काम पद पर ठहरा कर.........

५२१) "चैतन्य आत्मा" सत् ज़ानि ।
स्वात्मामर्शन सीवन मानि ॥

इसी बात को सत्य जानता है कि शुद्ध चैतन्य ही आत्मा है और अपने स्वरूप का पुनः पुनः बिमर्शन करने को ही अपने उपास्य देव की सेवा करना मान लेता है ।

५२२) अभ्यासान्तर स्थिर बनि थामी ।
पूरि तस हृदयस आनन्द स्वामी ॥

अभ्यास के भीतर जब वह स्थिरता पूर्वक अपना स्थान बना लेता है तो उस के हृदय की अभिलाषाओं को आनन्द-स्वामी परमेश्वर स्वयं पूरा कर देता है ।

इति षोडशः समुल्लासः ॥ १६ ॥

१७ अथ सप्तदशः समुल्लासः

५२३) चित् वू वनय योदवै म्योन वोज़क ।
कल मशरावित निष्कल रोज़क ॥

हे चित्त यदि तू मेरी बात को मान लेगा और राग-त्मक वासना को भूल कर निर्वासन होकर ठहरेगा तो मैं तुझे उपदेश करोंगा ।

५२४) कल् वासना वाह्यान्त्च त्रावि ।
निष्कल चित वाह्यान्तर थावि ॥

जो बाह्य तथा आन्तर विषयों के राग को और उनकी वासना को छोड़ देवे और अपने चित्त को बाह्य और आन्तर व्यवहार में राग रहित बना कर रखे।

५२५) स्वात्मस्थो श्रद्धालु योगी ।
निष्काम निर्वासन निरोगी ॥

वह अपने स्वरूप पर ठहरा हुआ श्रद्धावान् योगी बन जाता है । वह कामना रहित, वासना रहित और रोगरहित हो जाता है ।

५२६) निष्कामी छलछांगरि रुस्तुय ।
भोगी भोग चितनाङ्गरि रुस्तुय ॥

वह कामनाहीन और उथल पुथल से रहित होकर आत्म ज्ञान का उपभोग करता है । विषयभोग के प्रति उसका चित्त पुनः पुनः मांग करना छोड़ देता है ।

५२७) टयोठ् म्यूठ अशनन् तद्वा ।
युथ वोंठ आसि त्युथ वलि वुरि वासा ॥

जो कुछ भी मीठा – कडुआ मिले उसे खाता हुआ जैसा तैसा भी जो कुछ सामने उपस्थित हो जाए उसे पहनता लपेटता और ओढ़ लेता है ।

५२८) देहस्थो जीवन मात्रात्मा ।
स्वात्मैव स्वातमस्थो स्वातमा ॥

वह शरीर में ठहरता हुआ भी केवल जीवन शक्ति स्वरूप ही होता है, । अपने स्वरूप में स्थिति को प्राप्त कर के एकमात्र स्वातमा ही होता है, अर्थात देह आदि से उत्तीर्ण शुद्ध चैतन्य को ही अपना आप समझता रहता है ।

Printed at :-
Aparana Printing Press, Srinagar.